

मानस के मङ्गलाचरण

प्रभुदयाल मुन्तासुनवाला
आकुलिया

—सुदर्शनसिंह

प्रस्तावना

श्री रामनवमी सम्बत् १९३१ विक्रम को गोस्वामी श्री तुलसी-दास जी ने अयोध्या में श्री रामचरित मानस का प्रणयन-प्रारम्भ किया। आगामी वर्ष विक्रम संवत् २०३१ की रामनवमी को चार सौ वर्ष मानस-निर्माण प्रारम्भ के पूरे होंगे। देश की अनेकों संस्थाओं ने इस अवसर पर मानस चतुश्शती महोत्सव मनाने का निश्चय किया है।

मानस संघ की स्थापना ही श्री रामचरित मानस के प्रचार प्रसार केलिये हुई है और रामवन तुलसी तीर्थ है। अतः निश्चय किया गया कि मानस संघ की ओर से रामवन में मानस चतुश्शती महोत्सव पूरे चार सौ दिन मनाया जाय। इस प्रकार महोत्सव का प्रारम्भ फाल्गुन कृष्ण ६ संवत् २०२६ (२६-२-७३) से ही हो जाता है।

विचार यह किया गया कि पूजन, पाठ, कथा, प्रवचन के अतिरिक्त मानस के प्रचार एवं अध्ययन को स्थायी आधार देने के लिये महोत्सव-काल में मानस-सम्बन्धी एक उत्तम पुस्तक प्रतिमास प्रकाशित की जाय।

‘मानसमणि’ में ‘मानस’ के प्रत्येक काण्ड के मंगलाचरण के श्लोकों पर श्री ‘चक्र’ जी की व्याख्या ‘प्रकाश-पथ’ नाम से पहिले प्रकाशित हुई है। मानस-पीयूषकार को यह इतनी महत्व की जान पड़ी कि उन्होंने अपने ‘मानस-पीयूष’ के दूसरे संस्करण में इसका अधिकांश संकलित कर लिया। महोत्सव के उद्घाटन पर्व पर इसे ‘मानस के मंगलाचरण’ नाम से मानस चतुश्शती माला के प्रथम पुष्प रूप में पाठकों के करों में देते मुझे विश्वास है कि यह प्रयास सब को प्रिय होगा।

मानस चतुश्शती माला-पुष्प-१

मानस के मंगलाचरणा

(प्रकाश पथ)



व्याख्याकार

सुदर्शनसिंह 'चक्र'



फाल्गुन कृष्ण ६ सं० २०२६ वि०
प्रथमावृत्ति] २६ फरवरी सन्-१९७३ [मूल्य-२)

प्रकाशक—

मानस संध

पो०—रामवन (सतना) म० प्र०



मुद्रक—

सुषमा प्रेस

सतना, म० प्र०

मानस चतुश्शती की भेंट-१

मानस चतुश्शती महोत्सव रामवन में पूरे ४०० दिन चलेगा । इस महोत्सव के उपलक्ष में मानस संघ श्रीरामचरित मानस सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित करेगा । उसमें से यह पहिली भेंट महोत्सव के प्रारम्भ के दिन फाल्गुन कृष्ण ६ संवत् २०२६ (२६ फरवरी १९७३) को आपके हाथों में पहुँच रही है । प्रयत्न किया जायगा कि प्रत्येक महीने के विशेष उत्सव के दिन एक ग्रन्थ दिया जाय ।

विनीत—

शारदाप्रसाद

मन्त्री

मानस संघ, रामवन

समर्पण

श्री रामचरित ही जिसका जीवन है,
संयम है और प्राण है,
उन पवन पुत्र के पावन पाद पद्मों में ।

उनके सहज स्नेह का कांक्षी—

—सुदर्शनसिंह

दो शब्द

‘मानसमणि’ में कोई मानस के सम्बन्ध में व्याख्यात्मक निबन्ध चलते रहना चाहिये, ऐसा विचार पहिली बार रामवन आते ही मंत्री जी तथा हमने किया। ‘विनय-पीयूष’ पुस्तकाकार प्रकाशन के लिये सम्पादक जी ने मंगा लिखा था। मैंने एक साहस कर लिया। श्री रामचरित मानस के प्रारम्भिक श्लोकों पर कुछ लिख डाला। सभी श्लोकों पर उसी समय लिख डाला। क्रमशः वे ‘मानसमणि’ में छपते रहे। आज वे एकत्र रूप में आपके सम्मुख हैं।

मैंने श्री रामचरित मानस का विशेष अध्ययन नहीं किया है। सम्प्रदाय परम्परा से तो मेरा नाम मात्र का भी परिचय नहीं है। इतना होने पर भी मैंने एक साहस कर लिया था। उदार पाठकों ने अपनी उदारता से उसे प्रश्रय दिया। मानस-पीयूषकार ने इसमें से बहुत अंश ‘मानस-पीयूष’ के द्वितीय संस्करण में ले लिया, इसी से मैं उसे संग्रह रूप देने का साहस कर सका हूँ।

मानस तो रत्नों की खानि है। प्रत्येक पद, प्रत्येक चौपाई प्रत्येक पंक्ति महासागर है। जितना डूबेंगे, उतने रहस्य मिलेंगे। उतने रत्न मिलेंगे। मैंने तो ये कुछ सीप रख दिये हैं। क्योंकि मेरी डुबकी बहुत हलकी है। फिर भी ये रत्नों के सीप हैं। इसी से आपको इनमें चमक और आकर्षण जान पड़ता है। आप अधिक गहरी, अधिक टिकाऊ डुबकी लगावेंगे तो आपको उच्चल-तम रत्न प्राप्त होंगे।

मेरे पास साधन नहीं थे। डुबकी लगाने के लिये लकड़ी, पत्थर, पोशाक आदि चाहिये। जिनके पास साम्प्रदायिक सिद्धांतों का दार्शनिक ज्ञान है, जिन्होंने मानस एवं मानस संबंधी

शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन किया है, वे डुबकी लगायें तो मुझसे कहीं अधिक सफल होंगे। लेकिन डुबकी तो लगानी ही होगी। इधर उधर किनारे फिरने से तो कौड़ी घोंघे ही मिलेंगे।

डुबकी लगाने की एक ही पद्धति है। एक दोहे, चौपाई या श्लोक को कंठ कर लीजिये। पुस्तक को लेकर काम नहीं चलता। कंठ करके मन ही मन उसकी आवृत्ति कीजिये और मन में उस पर दो चार घंटे मनन कीजिये। कागज पेन्सिल आवश्यक हो तो साथ रखिये और आवश्यक हो तो विशेष बातें नोट करते जाइये। लेकिन बह बोट करने का मगड़ा बीच में न करें तो अधिक अच्छा होगा। मनन में व्याघात न पड़ेगा। इस प्रकार जो भाव, जो रहस्य प्रकट होंगे, वे अद्भुत होंगे।

श्री हनुमान जी की कृपा से, उनका स्मरण करते हुये आप कुछ चाहेंगे दीन भाव से तभी मिलेगा। अहंकार को शिथिल किये बिना कोई भी अन्तर के अनन्त ज्ञान भण्डार से एकात्मता स्थापित करने में समर्थ नहीं होता। यह एक उज्ज्वल सत्य है और इसकी उपेक्षा असफलता का कारण होती है।

मैंने यह सब किया है—ऐसा कुछ नहीं। मैं तो प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि मानस पर मनन करने वाले कोई मुनि और उसके मन्त्रों के दर्शन करने वाले कोई ऋषि मानस संघ को प्राप्त हों। यह तो एक बाल कौतुक है मानस प्रेमियों के मनोरंजनार्थ। अपना मनोरंजन करने वाले बाजीगर को भी आप कुछ देते हैं न ? तब इस बालक को कुछ न देंगे ? मुझे चाहिये आपका आशीर्वाद !

आपका नम्र सेवक—

सुदर्शनसिंह

प्रकाश-पथ

मेरी छोटी समझसे मङ्गलाचरण केवल कुछ स्तुति नहीं हैं। इनमें एक शक्ति होती है। उनसे एक प्रकाश आता है जो ग्रन्थ-कारको अपने पथपर प्रगति देता है। इसी प्रकाशके सहारे वह एक मोड़ (अध्याय) तक बढ़ा चला जाता है। रामचरित मानस में परमपूज्य गोस्वामीजी ने यह प्रकाश किस प्रकार प्राप्त किया है, यही देखना है।

“वर्णनामर्थ संधानां रसानां छन्दसामपि ।
मङ्गलानां च कर्तारौ बन्दे वाणी विनायकौ ॥”

अक्षरों तथा उनके अर्थसमूहों, रसों, छन्दों और मङ्गलोंके कर्ता वाणी और विनायकको प्रणाम !' सोधासा अर्थ है।

अक्षरोंकी संख्यातो निश्चित है। भगवान् शङ्करके डमरूसे निकले वे चौदह सूत्र सम्पूर्ण अक्षरोंको पूर्ण कर देते हैं। वे न हों तो मनुष्य भी एक अस्पष्ट संकेत करने वाला प्राणी रह जावे। गूंगे या पशुओं की भांति ही कुछ अस्पष्ट। मस्तिष्क की प्रौढ़ता अक्षरोंसे हुई और उन्होंने ही उसे अभिव्यक्त भी किया।

“वर्णा वै कामधेनवः” उनके अर्थोंका सचमुच संघ है। एक एक अक्षरके कई कई अर्थ हैं। जब उनसे शब्द बन जाता है और फिर शब्द समूह—तो अर्थों का क्या पूछना। रसोंकी संख्या यों तो नव कही जाती है, पर रसिक ही उसके निर्णायक हैं। छन्द शास्त्र विपुल है। नवीन छन्दों की सृष्टि सदा होती रही है और रहेगी।

मङ्गल मनका कार्य है। सुख-दुख मनके बर्म हैं। प्रत्येक व्यक्तिका मङ्गल पृथक पृथक है। परिस्थितिके अनुसार एक व्यक्तिके मङ्गलमें भी भेद माना जाता है। एक स्थान पर सबका समन्वय है। प्रभुके श्रीचरणोंमें पहुँचने में ही सबका मङ्गल है।

इन सबके कर्ता वाणी—हँसवाहिनी देवी शारदा वीणापाणि और तुन्दिल गणेश जी ! प्रतिभा की देवी, नीर क्षीर विबेकी हंस पर आरूढ़, मृदुल मधुरतन्त्री से विश्वको मङ्कृत करने वाली शुभ्रवसना सरस्वती, वर्ण, अक्षर, छन्द, रसकी अधिष्ठात्री हैं। इस विषयमें किसी को कोई संदेह हो नहीं सकता।

भगति हेतु बिबि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति वाई ॥

श्री गोस्वामीजी अपने 'मानस' के प्रारम्भमें उन्हीं 'वर्णानामर्थसंधानां रसानां छन्दसामपि' की जननीका आह्वान कर रहे हैं। उनके मानसमें तनिक सावधानीसे पैर बढ़ाइये ! वर्ण ही वर्ण नहीं, उनमें अर्थ संघ हैं। एक एक वर्ण सार्थक है और उसके भी कई अर्थ हैं। रससे वह भरा पूरा है और छन्द उसके आगे हाथ जोड़े खड़े हैं। प्रसंग छन्दके लिये नहीं, छन्द प्रसंगके लिये आये हैं। जब जी चाहा छन्दोंसे क्रीड़ा करली।

गणपति विघ्नेश, विनायकादि अनेक नाम हैं उन प्रथम पूज्य के। शङ्करजीके गणोंसे आप परिचित हैं या नहीं ? सारे खुराफात की जड़ वे ही हैं। प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भमें ही सरसों छिड़कनी पड़ती है "अपसर्पन्तु ते भूता" गणपति उनके नायक हैं। वे तुष्ट रहें तो फिर कौन कान पूँछ हिला सकता है।

वेदोंमें गणेशजी को प्रधान विघ्नकर्ता देवता बताया गया है। पुराणोंमें वे मङ्गल मूर्ति होगये हैं। दोनों एक ही बात है। नियम है कि गति को बनाये रखने के लिये शक्तिकी आवश्यकता

नहीं। आवश्यकता अवरोधकशक्ति की है। प्रत्येक व्यक्ति मङ्गल चाहता है, इसीके लिये प्रयत्न करता है। यदि उसकी इच्छा का कोई अवरोधक न हो तो वह उसे प्राप्त कर लेगा। अवरोधकों का अधिष्ठाता स्वयं मङ्गल दाता होजाता है तुष्ट होने पर।

एक सहन शील सामञ्जस्यवादी शास्त्रोंके प्रति श्रद्धालु के नाते भी प्रथम पूज्य का प्रथम स्मरण आवश्यक था। योगशास्त्र की दृष्टिसे प्रथम चक्र मूलाधार है, इसके अधिष्ठाता हैं श्री गणेश जी और उसके जागरणका फल है प्रतिभा की प्राप्ति। प्रतिभाकी देवी का स्मरण करते हुये गोस्वामी जी उसी प्रथम चक्रके अधिष्ठाताको प्रणाम करते हैं।

यहाँ तक तो अर्थ और औचित्यकी बात हुई। वह प्रकाश कहां से अवतरित हुआ ? वही संचित—तीव्र दृष्टि से देखें।

दिव्य नामों की जिनका अपने अर्थसे तादात्म्य सम्बन्ध है, बात मैं नहीं करूँगा। साधारणतया शब्द एक प्रकारका स्पष्ट संकेत है, जिसे उस भाषाके जिसमें वह बोला जाता है, बोलने वालोंने एक निश्चित भाव या एकाधिक निश्चित भावोंके लिये स्थिर कर लिया है। अतः शब्दके साथ एक भावका हृदयमें स्फुरण होता है। यही भाव उसका अर्थ है। यह भाव यदि व्यक्ति या पदार्थके रूपमें हुआ तो एक आकृति उत्पन्न करेगा और यदि भावके रूपमें हुआ तो काम क्रोध स्नेहादि कोई भाव उत्पन्न करेगा।

हमारा मन तटस्थ रहना नहीं जानता। कोई विषय चाहे किसी भी इन्द्रियका हो, सामने आते ही उसमें एक भाव अवश्य उसके प्रति होगा। फिर चाहे वह भाव प्रेमका हो या द्वेषका अथवा और भी कोई। इस प्रकार जो शब्द मूर्ति उपस्थित करते हैं, वे एक भाव भी उपस्थित करते हैं।

प्रत्येक क्रियासे कम्पन और प्रत्येक कम्पनसे आकृति बनती है। इस नियम के अनुसार शब्द एक अपनी स्वतः की सूक्ष्म प्रकृतिमें आकृति रखता है और वह आकृति मानव कल्पित है और प्रथमाकृति प्राकृति है। ऋषियोंने शब्दको उन्हीं आकृतियों का द्योतक रखा है जो उस शब्द की प्राकृति आकृति है। अर्थात् संस्कृत वाङ्मयमें वृषभ शब्द बैलकी प्राकृत आकृति रखता है और इसीसे ऋषियों ने उसे बैल वाचक ही बनाया। यह विशेषता और किसी भी भाषामें प्राप्त नहीं। अब आप समझ गये होंगे कि क्यों गोस्वामी जी ने मङ्गलाचरण देववाणीमें किये हैं।

एक शब्द, उसके भाव, उस भाव जन्य आकृति और आकृति से हमारा रागादि कोई सम्बन्ध साथ ही प्रकृतिके गुप्त रहस्यमें उसकी एक आकृति, उसका कम्पन और हमारे मस्तिष्कपर उसका प्रभाव। इतने कार्य शब्दके होते हैं। देववाणीमें शब्दकी प्राकृत आकृति और भावगत आकृति होने से हमारे मस्तिष्क और हृदय एक ही धारा से प्रभावित होते हैं।

स्पष्टीकरण तो क्रमशः होता रहेगा, पर इतना और जान लीजिये कि प्रत्येक क्रिया, आकृति और भाव के एक एक अधिष्ठाता देवता होते हैं। यदि शब्दों की आकृतियां, भाव के आधार कल्पित आकृतियों में सामंजस्य हो तो अधिष्ठाता का रूप स्पष्ट हो जाता है और वह हमसे सम्बद्ध होकर हमें प्रभावित करने लगता है।

ऊपर के मङ्गलाचरण के श्लोक और उसके अर्थ के स्पष्टीकरण को अब फिर देख जाइये और देखिये कि किस प्रकार गोस्वामीजी ने क्या प्रभाव वाणी विनायक से ग्रन्थारम्भ में प्राप्त किया है।

“भवानीशंकरो वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम् ॥”

उन श्रद्धा एवं विश्वास स्वरूपी श्री उमामहेश्वर की हम वन्दना करते हैं, जिनके बिना अपने हृदय में ही स्थित परमेश्वर को लोग देख नहीं पाते ।

उस सर्वव्यापी के छः उपलब्धि पीठ हैं । दूसरे शब्दों में छः प्रकार से वह रहता है । सर्वत्र सर्व व्यापक रूप में, नित्य धाम में, अवतार रूप में, हृदय में, मूर्ति में और श्री गुरुदेव के रूप में । हृदयस्थ उस ईश्वर को आप श्रीराम कहें, वासुदेव कहें या ईश्वर कहें ! राम शब्द बना है रमु क्रीड़ने से । इसका एक अर्थ होता है जो सभी अन्तःकरणोंमें क्रीड़ा करता है । गीता के शब्दों में—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

वह सब के हृदय में रहता है । सबका एकमात्र संचालक वही है । पर—

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी ।

सकल जीव जग दीन दुखारी ॥

ऐसा क्यों ? क्योंकि हममें श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं । बिना श्रद्धा और विश्वास के वह जाना या देखा नहीं जा सकता । कोई भी अपने पिता को नहीं जान सकता, बुद्धि के किसी भी तर्क या प्रमाण से, इसके अतिरिक्त कि इस विषय में वह अपनी माता पर श्रद्धा करे और उसके बचनों पर विश्वास करे । फिर जगत्पिता को कोई बुद्धि श्रद्धा-विश्वासके बिना कैसे जान सकेगी ?

“औरौ एक गुपुत मत, सबहिं कहउं करजोरि ।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावै मोरि ॥”

श्रीमुख के इस सिद्धान्त को स्मरण रखिये । प्रेम के बिना—भक्तिहीन को तो वे प्रेमजन मिलते नहीं । भक्ति नहीं मिलती भगवान शंकर के भजन बिना । यही बात गोस्वामीजी ने कहा । श्रद्धा विश्वास के बिना वह हृदयस्थ ईश्वर देखा नहीं जाता और उसके मूर्त रूप उमामहेश्वर हैं ।

श्री गोस्वामीजी को श्रीरामचरित मानस का प्रणयन करना है । यह भगवान शंकर के मानस की कृति है—

“रचि महेस निज मानस राखा ।

पाइ सुसमउ सिवासन भाखा ॥”

अपने मानस में ही उसका साक्षात् करना है । उस स्वान्तस्थ अवधेश को जानना नहीं, देखना है । उसकी ललित लीलाओं का साक्षात् वर्णन करना है । अतः इस समय केवल श्रद्धा-विश्वास ही पर्याप्त नहीं, श्रद्धा-विश्वास के अधिष्ठाताओं की कृपा आवश्यक होगई है । उन प्रथम वक्ता एवं श्रोताका स्मरण किया गया है ।

“दोहु प्रसन्न महेस भवानी ।”

बिना श्रद्धा-विश्वास के तो मनुष्य स्वान्तस्थ ईश्वर को भी नहीं देख पाता । यह तो ‘सुगम अगम नाना चरित’ है । इसे तो ‘सुनि मुनिमन भ्रम होइ ।’ अतः इसमें अनुराग तो भगवान शंकर एवं माता पार्वती की कृपा से ही होगा । वे ही कृपा करके कुतर्क जालका अपहरण कर लें तो उससे छूटकर इस चरित में श्रद्धा विश्वास हो । यदि यह होगया, तो फिर उस कौशल किशोर को प्राप्त करने में कसर ही क्या रह गई ?

भवानी और शंकर श्रद्धा एवं विश्वास स्वरूपी हैं । समझने की बात बस इतनी ही है । श्रद्धा का अर्थ है आदर बुद्धि और

विश्वास का अर्थ है, जो कुछ जिस रूप में उपस्थित हो उसे वैसा ही मान लेना । उसमें तनिक भी शंका-संदेह न करना । शंकर-कल्याण तो स्वीकृति में ही है । विश्वास धोखा प्रायः नहीं देता । अविश्वास एवं तर्क ने मानव को उद्विग्नता के अतिरिक्त और क्या दिया है ? अन्त में उसे मानना ही पड़ता है । भवानी विश्व-विधात्री तो आदर बुद्धि स्वरूप हैं । परस्पर के सम्मान पर ही संसार स्थित है ।

आप में कोई भी भाव ऐसा नहीं जो आपका हो । जिसकी उत्पत्ति आपके मन ने की हो । अनन्त आकाश में असंख्यों भाव स्तर हैं । आपका मन जिस स्तर में होता है, उसी के भाव को ग्रहण कर लेता है । आप यों समझिये कि मन एक निर्मल कांच की भाँति है । भावनाओं की रंगीन अपार सीढ़ियाँ हैं । मन उन पर लुढ़कता है । कोई शक्ति उसे ऊपर-नीचे लुढ़काती है । जिस सीढ़ी पर वह पहुँचता है, उसी के रंग का दीख पड़ने लगता है । किसी भी मन में ऐसी कोई बात न आई और न आ सकती, जो भावस्तर न हो ।

प्रत्येक भावस्तर का एक अधिष्ठाता देवता होता है । प्रत्येक सीढ़ी का एक स्वामी होता है । कभी कभी एक स्वामी के विभिन्न नामों एवं रूपों से कई स्तरें अधिष्ठित होती हैं । जिस भाव में आपका मन होता है, उस भावस्तर के स्वामी-अधिष्ठाता देवता से वह सम्बन्धित होता है । यदि वह उसी भाव में स्थिर हो जावे तो उसके अधिष्ठाता देवता की प्राप्ति हो जायगी । इसी से प्रभु ने कहा है कि जो मुझे जिस रूप में चाहता है, मैं उसे उसी रूप में प्राप्त होता हूँ । जिस रूप में चाहने का अर्थ बड़ा सीधा है, मन में तो वही भाव आवेंगे, जिनकी भावस्तरें होंगी । प्रत्येक भावस्तरों के अधिष्ठाता हैं ही । अतः किसी भी भाव के अनुसार किसी को भगवद्दर्शन में क्या कठिनाई हो सकती है ?

अब स्पष्ट समझ लीजिये कि श्रद्धा-भाव की अधिष्ठात्री श्री पार्वतीजी हैं और विश्वास के अधिष्ठाता भगवान शंकर । इसी से उन्हें श्रद्धा एवं विश्वास स्वरूप कहा गया है । उनकी कृपा के बिना अन्तस्थ ईश्वर की प्राप्ति हुआ नहीं करती, वह सर्वसाधारण दृष्टि से गोस्वामी जी ने कहा है ।

मानस को तो भगवान शंकर ने रचा है और भगवती पार्वती को सुनाया है । उसके ज्ञानके लिये उन्हीं की कृपा आवश्यक है । गोस्वामीजी कह रहे हैं कि श्रीराघवेन्द्र की लीला तो प्रत्येक हृदय में हो रही है, पर आपकी कृपा के बिना उसका प्रादुर्भाव होता नहीं । मैं उसके प्रत्यक्षीकरण के लिये आप दोनों की वन्दना करता हूँ । मेरे हृदय में उसका प्राकट्य करें ।

कैलाश जाकर साम्बशिव के न तो दर्शन करने हैं और न यही इच्छा है कि भगवान शंकर प्रगट होकर वह मानस सुना दें । यहां तो 'स्वान्तः सुख' की इच्छा है । हृदय में उसे देखना चाहते हैं । उस लीला पर अश्रद्धा एवं अविश्वास ही आवरक होते हैं । श्रद्धा विश्वास रूप भवानी शंकर कहकर गोस्वामी जी अपना अभिप्राय स्पष्ट कर रहे हैं कि मैं मानसिक भावों के अधिष्ठाता रूप में आपकी वन्दना करता हूँ, अतः उसी रूप में आप भी अश्रद्धा एवं अविश्वास को दूर कर मेरे मानस-नेत्रों के सम्मुख ही 'मानस' को प्रत्यक्ष कर दें । प्रकट होकर सुनाने की आवश्यकता है नहीं ।'

पहिले श्लोक में विघ्नों की निवृत्ति एवं वाणी-वर्णन शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् इस दूसरे श्लोक में वर्ण्य विषय के साक्षात् करने की प्रार्थना की गई है । यह प्रार्थना वर्ण्यको मानव-जगत में मूर्त करने के लिये प्रकाश प्राप्ति के लिये है ।

“बंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् ।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥”

ज्ञानमय, नित्य उस शिव स्वरूप श्री गुरुदेव की बन्दना करते हैं, जिनके आश्रय में रहने के कारण टेढ़ा होने पर भी चन्द्रमा सर्वत्र बन्दित होता है ।

पहिली बात यह कि गोस्वामी जी यहां भगवान शङ्कर को ही गुरुदेव मान रहे हैं । ऐसी स्थिति में ज्ञानमय तथा नित्य दोनों विशेषण उचित ही हैं । इससे पूर्व के श्लोक में वे उभामहेश्वर से ‘मानस’ की प्राप्ति के लिये प्रार्थना कर चुके हैं । मानस के आदिकर्ता और उपदेष्टा भगवान शङ्कर हैं, उन्हीं की कृपा से गोस्वामी जी को वह प्राप्त भी हुआ है । अतएव यदि गोस्वामी जी भगवान शङ्कर को गुरु कहें तो आश्चर्य क्या ?

“रचि महेस निज मानस राखा ॥”

मानस के निर्माता तो भोले बाबा हैं ही उन्हीं के भरोसे गोस्वामी जी ने लेखनी भी उठाई है—

‘सपनेहुँ सांचेहु मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ ।

तौ फुर होउ जो कहउँ सब, भाषा भनित प्रभाउ ॥’

इतना पक्का विश्वास श्री गुरु को छोड़कर और कहाँ होगा ? कहीं भी ऐसा वर्णन तो है नहीं कि गोस्वामी जी ने कभी शिव-पूजन किया हो । वे जन्म के राम भक्त हैं और श्री महावीर जी के कृपापात्र । फिर भगवान शङ्कर का यह दृढ़ विश्वास और—

‘संकर साखि जौं राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरौ ।

अपनो भलो रामनामहिं ते तुलसिहिं समुक्ति परौ ॥’

यह आशुतोष की शपथ, श्री रामचरित मानस में आदि में शिव चरित तथा बार बार भगवान शङ्कर का माहात्म्य क्या यह नहीं बतलाता कि भगवान शङ्कर से गोस्वामी जी का गुरु-शिष्य का नाता है ? गोस्वामी जी ने जहाँ भी गुरु वन्दना की है, वहाँ अधिकांश इन योगीश्वर के श्रीचरणों का ही स्मरण है अस्तु—

शास्त्र कहता है—प्रतिमा में पाषाण बुद्धि, प्रसाद में भोग-बुद्धि और गुरु में मनुष्य बुद्धि नरक का कारण होती है। श्री गुरुदेव मनुष्य नहीं हैं। वे स्थूल शरीर में बद्ध नहीं हैं। वे नित्य हैं, अविनाशी हैं तथा ज्ञानमय हैं। उनमें अज्ञान एवं माया का लेश भी नहीं है। वे मनुष्य रूप में साक्षात् भगवान शङ्कर हैं। निश्चित रूप से गोस्वामी जी रामभक्ति के आद्याचार्य भगवान शङ्कर को मानते हैं। 'संकर भजन बिना नर' वाली श्रीमुख-वाणी भी यही बात बतलाती है।

श्री गुरुदेव शरीरधारी मर्त्य नहीं हैं। वे तो नित्य शाश्वत हैं। उनका यह शरीर तो प्रतीत सा होता है। यही सच्ची गुरु-भावना है। इस भावना को मानकर आप जिस शरीर में भी गुरु बुद्धि करेंगे, वे साक्षात् ज्ञानघन शङ्कर ही होंगे। उसे मनुष्य पूजा कहना अन्याय होगा। मानव के विकार एवं उसके दोष वहाँ पनप नहीं सकते। यदि वह व्यक्ति जिसे गुरु माना गया है, कोई निम्न वृत्ति का व्यक्ति भो हुआ तो उससे शिष्य की कोई हानि शक्य नहीं। क्योंकि शिष्य ज्ञानघन नित्य का शिष्य है, किसी नश्वर शरीर या किसी कलुषित अन्तःकरण की वासनाओं का सेवक नहीं। वह जानता है कि बहिर्मुख करने वाली आज्ञायें उसके गुरु शरीर के मुख से निकलें भी तो वे उसके श्रीगुरुदेव की न होंगी। वह तो किसी मर्त्य की बात होगी जो उसके गुरु हो नहीं सकते। वह दूसरों की आज्ञा भला क्यों मानने लगा ?

भगवान शङ्कर का आश्रित टेढ़ा चन्द्रमा भी विश्वबंध है। उसकी टेढ़ाई गई नहीं है। उसमें यह दोष रहते हुये भी लोग उसे प्रणाम करते हैं। यह बात यों ही नहीं कही गई। श्री गुरु-देवके आश्रित होनेपर सदोष-अज्ञ शिष्य भी विद्वानों द्वारा आदरणीय हो जाता है, यह सूचित किया गया। शिष्यमें योग्यता तो बहुत धीरे धीरे आती है। अनेक त्रुटियां अंत तक बनी रह सकती हैं, परन्तु उसका सम्मान तो प्रारम्भसे ही होने लगता है।

श्री गोस्वामीजी अपने श्रीगुरुदेव भगवान शङ्करसे इस श्लोक में सांकेतिक प्रार्थना कर रहे हैं। प्रभु आपके आश्रयमें रहकर टेढ़ा चन्द्रमा भी जगद्वन्द्व हो जाता है। मेरी वाणी भी सदोष है। उसमें अनेक त्रुटियां हैं। इतना सब होने पर भी वह वाणी आपके आश्रित है। आपही के रचित 'मानस' को मैं भाषामें कहने चला हूँ। अतः उसका विश्वमें आदर होना ही चाहिये। उसके दोष लोगों की दृष्टिसे अंतर्हित हो जाने चाहिये।

'मानस' के प्रारम्भमें गोस्वामीजी ने जो स्तुतियां की हैं, जो असमर्थता प्रकटकी है, वह न तो कृत्रिम है और न पाखण्ड। नम्र एवं सरल हृदय अपनेको सदा निर्बल समझता है। सफेद चंदरका तनिकसा भी धब्बा दूरसे दीखता तथा अखरता है। यही निर्मलता एवं सरलता उस नम्रतामें प्रकट हो रही है। गोस्वामी जी को अपनी कृतिमें दोष ही दोष जान पड़ते हैं। विश्वास नहीं कि 'बुधजन' में उसका आदर होगा। इसीसे आशुतोष अपने गुरुदेवसे प्रार्थना करते हैं।

‘श्री गुरुपद नख मनिगन जोती ।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥’

गुरुदेवके पादारविन्दोंकी दिव्यनख किरण मालाका स्मरण करनेसे हृदयमें दिव्य दृष्टि होती है। ज्ञान कहीं बाहरसे नहीं आता। प्रत्येक अंतःकरणमें अनन्त ज्ञान है। प्रत्येक मस्तिष्कमें सब कुछ है। इसका प्रमाण यह है कि कई बार सिरमें पीट लगने पर आहत ऐसी भाषायें बोलने लगा और ऐसी बातें कहने लगा है जिसका उसे स्वप्नमें भी बोध नहीं था। मेस्माराइजमें सम्मोहित पात्र भी कभी कभी विचित्र भाषा बोलने लगता है। ज्ञान का वह अपार कोष आवरित है। गुरुदेव कृपा करके उसके एकांशको जो आवश्यक है आवरण मुक्त कर देते हैं। उनके स्मरणसे भी यह आवरण दूर हो जाता है। इस आवरणका दूर होना ही दिव्य दृष्टि है।

इस दिव्य दृष्टिको प्राप्त कर लेना एक बात है और उसे शब्दोंमें प्रकट कर लेना दूसरी बात। प्रत्येक व्यक्ति उसे अच्छी प्रकार जो वह जानता है प्रकट करनेमें समर्थ नहीं होता। इसके लिये प्रतिभाकी आवश्यकता होती है। ज्ञात विषय को प्रकट करनेमें भाषा एवं शब्द-भाव संबंधी अनेक दोषों के कारण वर्य्य विषय का रूप ज्ञातसे भिन्न हो जाता है। उसमें बहुत उलट-फेर एवं विकृतिकी सम्भावना हो जाती है।

दूसरे श्लोकमें गोस्वामीजी ने श्रद्धा-विश्वासरूपी उमा-महेश्वर से प्रार्थना की कि वे उस दिव्य 'मानस' को अपने मानसमें साक्षात् कर सकें। इस तीसरे श्लोकमें वह कह रहे हैं कि साक्षात् किये हुये विषयका मैं वर्णन करने जा रहा हूँ। इस कार्यमें शब्दादि त्रुटियों के कारण वर्य्य विषय विकृत हुये बिना न रहेगा। फिर भी उसका आदर संसारमें होना चाहिये। क्योंकि वह भगवान शङ्करसे प्राप्त हुआ है और उनसे आश्रित तो टेढ़ा चंद्रमा भी जगद्वन्द्य होता है।

। 'सीतारामगुणग्राम पुण्यारण्यविहारिणौ ।
बन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥

श्रीसीतारामजी के गुण-समूह स्वरूप पुण्य काननमें बिहार करवाले विशुद्ध विज्ञानी आदिकवि महर्षि वाल्मीकि तथा कर्पश्वर आंजनेयकी बन्दना करता हूँ ।

दोनोंही युगल सरकारके गुण-गायक हैं । दोनोंका निवास वनमें है । एक का महर्षि होनेके कारण और दूसरे तो कपीश्वर ही हैं । 'ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः' सो एक महर्षि ठहरे । उनके ज्ञान की शुद्धताका क्या पूछना । दूसरे 'ज्ञानिनामग्रण्य' हैं । अतः दोनों विशुद्ध विज्ञानी हैं । इसीसे दोनोंकी बन्दना एकही साथ कर दी गई ।

'हिय निरगुन नयननि सगुन, रसना राम सुनाम ।
मनहु पुरट सम्पुट लसत, तुलसी रतन ललाम ॥'

गोस्वामीजीका यह आदर्श आत्मज्ञ है । बन्दनाके दोनों पात्र विशुद्ध विज्ञानी हैं । यह तो उनके हिय निरगुनकी बात होगई । उन्हें सीतारामसे मतलब है । अकेले 'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना' के बदले योगमायाके साथ उनका सम्बन्ध पसन्द है । योगमायाको ही तो तटस्थ उपादान बनाकर वह निर्विकार अव्यक्त सगुण व्यक्त होता है । अतः 'सीताराम' उनके 'नयननि सगुन' को पूर्णतः सूचित कर रहा है । 'रसना राम सुनाम' की चर्चा बेकार है । वे 'गुण-ग्राम पुण्यारण्य विहारिणौ' हैं ।

भगवान् शङ्करकी बात छोड़ देनी चाहिये । उन्होंने तो अपने मानसको 'निज मानस' में ही रखा था । लोकमें तो श्रीराम-चरित के दो ही आदिकर्ता हुये । उसमेंसे भी महर्षि वाल्मीकि

की कृति ही प्रख्यात हुई। श्रीहनुमानजी ने तो अपनी कृतिकों महर्षिके आग्रहपर समुद्रको समर्पित कर दिया। इसीसे दोनों आदि रामचरित गायकोंकी वन्दना एक साथ की गई और उसमें भी 'प्रथम कवीश्वर' ही स्मरण किये गये।

भगवान व्यासका काल महर्षि वाल्मीकिसे बहुत पीछे है। अतः उन्होंने चाहे भले श्रीरामचरितका वर्णन किया हो पर वे आदि आचार्यों में नहीं आते। भगवान शंकरके पश्चात् तो इन्हीं कवीश्वर एवं कपीश्वर की गणना हो सकती है। वेदिक वर्णनोंको घसीटना नहीं चाहिये। श्रुति नित्य है। कालसे प्रेवर्तित वस्तु है वह। उसमें अवतार चरित न होकर नित्यधामकी नित्य लीलाओंका वर्णन है। यदि अवतार चरित है भी तो उतना ही जितना कि बिना फेरफार के नित्य रहता है। प्रत्येक कल्प में होता है।

गोस्वामीजी को स्वयं श्रीसीतारामका गुण-गान करना है। वे भी उसी पुण्यारण्यमें बिहार करना चाहते हैं। अतएव वहाँके दो आचार्यों का स्मरण करते हैं। यों तो वह गुण-ग्राम अरण्य है। उपवन नहीं कि उसमें प्रवेश करनेमें प्रतिबन्ध हो, किन्तु अरण्यमें भूलने-भटकने का भय भी तो है ही। अतः उस अरण्य के सुपरिचित दो मार्गभिज्ञोंसे प्रार्थना कर रहे हैं कि आप लोग हमें मार्ग-प्रदर्शन करें।

‘मुनिन प्रथम हरि कीरति गाई ।

तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ॥’

अनुगमन करनेमें ही सुगमता है ? अन्यथा तो उस अपार अरण्यका कोई ठिकाना है ? कहीं आरपार है उस गुण-ग्राम राशिका ? ‘सुगम अगम नाना चरित’ तो ‘मुनि-मन-भ्रम’ के भी

कारण बन जाते हैं। ऐसे दुरूह बनमें बिना पथ-प्रदर्शकके प्रवेश करना उचित नहीं है। पथ-दर्शक भी उस वनसे भली प्रकार परिचित होना चाहिये। अतः उसी अरण्यके विहार करने वाले पथ-प्रदर्शक गोस्वामीजी ने साथ लिये हैं।

कभी कभी सदा के निवास करने वालों को भी दिग्भ्रम हो जाया करता है। वे भी भर्ग भूल जाते हैं। यदि कहीं मार्ग-दर्शकको दिग्भ्रम हो जाय, जो एक दुर्गम वनमें अशक्य नहीं, जो सारा गुड़-गोबर ही हुआ समझिये। गोस्वामीजीके पथ-दर्शक विशुद्ध विज्ञानी हैं। ज्ञान तो भले मायावरित हो जाय, पर विज्ञान (अपरोक्ष ज्ञान) मायाच्छन्न नहीं हो सकता। फिर यहां तो विज्ञानभी विशुद्ध है। उसमें भ्रम हो ही कैसे सकता है। ऐसे विशुद्ध विज्ञानी पथ दर्शक हों; तब उस 'सुगम अगम' चरित में मोह या भ्रम न हो तब उस काननसे निस्तार हो एवं उसके सुमधुर फलोंका रसास्वादन हो।

ऐसे बीहड़ काननमें प्रवेश ही क्यों ? इसलिये कि वह पुण्य है। मायाकी अपवित्रता बिना उसमें प्रवेश किये दूर होती नहीं। उस पुण्यारण्य में प्रवेश किये बिना जीव इस कालुष्यसे त्राण पा नहीं सकता और जब तक यह मैल उसके ऊपर लदा है उसे भला शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। इस मैलको लादे वह कैसे उस सर्वेश्वरके सम्मुखीन हो सकेगा !

‘संकर-चाप जहाज, सागर रघुबर बाहुबल ।

बूझसो सकल समाज ॥’

उस बीहड़ पुण्यारण्यमें ऐसे कई दुर्गम स्थल आये। पथ-प्रदर्शक न होते तो गाड़ी अटक जाती। गोस्वामीजी पहिलेसे सावधान थे। उनके विशुद्ध विज्ञानी मार्ग-दर्शक ने बतला दिया—

‘चढ़े जे प्रथमहिं मोहबस ।’ इसी बोहड़का ध्यान पहिलेसे मन में है । पुण्यारण्यमें प्रवेश करनेका लालच रोक नहीं सकते । मुनियों द्वारा कीर्तित सुगम-मार्ग लेकर भी भय लगता है । अतः गोस्वामीजी श्रीसीताराम गुण-गायक प्रथम दो आचार्योंसे पञ्च प्रदर्शनकी प्रार्थना कर रहे हैं ।



‘उद्भवस्थिति संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करां सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥

उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयकी कारणभूता, क्लेशहारिणी, सर्वकल्याण प्रदायिनी श्रीरामप्रिया सीताजीकी बन्दना करता हूँ ।

‘जन्माद्यस्य यतः ।”

ब्रह्मसूत्र के इस सिद्धान्तमें ब्रह्मको सृष्टिका तटस्थ उपादान कारण माना गया है । वस्तुतः तो सृष्टि योगमाया का ही कार्य है । वही ‘प्रभु रुख पाइ’ इस जगत का सृजन करती हैं । ब्रह्माके रूपमें उन्हीं की विभूति निर्माण कार्य करती है । स्थिति करने के लिये उनकी विभूति रमाके रूपमें व्यक्त होती है । भगवान् विष्णु तो शेष-शायी हैं । पुरुष तो द्रष्टामात्र है । जगत की सृष्टि हुई है शारदा-प्रतिभा से । प्रतिभा ही नवनिर्माण करती है । ब्रह्मा में से प्रतिभा पृथक् करदी जावे तो सम्भवतः वे कुम्हार का घड़ा भी न बना सकेंगे । स्थिति है लक्ष्मी से । पालन-पोषण श्री का काम है । स्पष्ट रूप से संसार में पालन का कार्य लक्ष्मी द्वारा हो रहा है । जिस शक्ति के बिना शिव शय हो जाते हैं, वही नृमुण्ड-मालिनी चामुण्डा प्रलय करती हैं । शिव तो केवल प्रतीकमात्र हैं । विनाश तो करती हैं वे कालिका महाशक्ति । शारदा, रमा तथा काली ये तीनों उसी योगमाया की अंशभूता विभूति हैं । इन रूपों में वही संसार का निर्माण पालन तथा विनाश करती हैं । वह योगमाया ही सीता हैं ।

वह योगमाया क्लेशहारिणी हैं । उनके बिना क्लेशों का आत्यन्तिक नाश भला कौन करेगा । वे ‘विद्या’ स्वरूप हैं । ‘अविद्या’ के कारण जीव इस आवागमन रूप महा-क्लेश में

पड़ा है। इससे परित्राण 'विद्या' द्वारा—उन दयामयी योगमाया की कृपा से होता है। 'जोड़ बाँधै सोइ छोरे' जिन्होंने इस भवचक्र का प्रवर्तन किया है, जो उसका रक्षण करती हैं तथा मिटा भी डालती हैं, वही इससे परित्राण भी प्रदान करने वाली हैं। परित्राण करने की शक्ति उनमें ही हो भी सकती है।

वे सर्व श्रेयस्करी हैं। प्रेय तो यह संसार है। इसकी तो वे कर्त्ता, रक्षिका एवं हर्त्ता हैं ही। यहाँ जो कुछ मिलेगा, उनको कृपा से ही। श्रेय—इस जाल से छूटकर परमधाम की प्राप्ति भी उन्हीं की कृपा से होती है। सभी प्रकार के श्रेय—निर्वाण, सालोक्य, सायुज्य, सारूप्य तथा सामीप्य प्रभृति सभी मुक्तियाँ ज्ञान वैराग्य तथा भक्ति भी उन्हीं की कृपासे प्राप्त होती है।

वे रामवल्लभा हैं। प्रभु को अत्यन्त प्रिय हैं। उन्हीं की कृपा होने पर प्रभु भी कृपा करते हैं। वस्तुतः तो प्रभु निर्विकार, तटस्थ, समदर्शी, उदासीन हैं। उन्हें किसी पर न रोष है और न कृपा। लेकिन योगमाया उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं। जब वे किसी पर कृपा करके उसे प्रभु के श्रीचरणों में उपस्थित कर देती हैं तो प्रभु को स्वीकार कर ही लेना पड़ता है। अपनाना प्रभुके श्रीचरणों तक पहुँचाना कृपा करना उन्हीं का काम है। प्रभु निखिल कल्याण गुणगणैक धाम हैं। निर्गुण होते हुये भी उन्हीं अपनी वल्लभा के प्रेमवश ही तो हैं।

‘मां, तुम संसार की सृष्टि करने वाली हो ! मैं श्रीरामचरित का गान करने जा रहा हूँ, मेरे हृदय में भाव सृष्टि करो ! तुम विश्व पालिका हो, मेरी प्रतिभा का पालन करो। तुम प्रलयंकारी हो, मेरे आलस्य प्रमाद प्रभृति का नाश करो। ऐसा करो मां,

जिसमें मेरी यह सृष्टि बने, रक्षित हो एवं इसकी बाधाओंका नाश हो ।’

‘मां, तुम्हीं क्लेशहारिणी हो ! भवके अनेक दैहिक दैविक भौतिक एवं मानस क्लेशों से सदाके लिये परित्राण प्रदानार्थ मैं यह राघवेन्द्र कथा-सुधा-श्रोत प्रवाहित करने जा रहा हूँ । जीवों का क्लेश इससे सर्वदा को दूर हो जायगा । यह तुम्हारा ही तो काम है । अतः इसमें मुझे कोई क्लेश बाधा न दे सके । उसका हरण करना !’

‘सर्व श्रेयस्करी मां ! समस्त श्रेयका पथ प्रशस्त हो जायगा इस पथ से । तुम्हारा काम सरल हो जायगा । अतः सहायता करो ! अपनी अपार कृपाधारा इधर प्रवाहित करो । आशीर्वाद दो कि जो इस ‘सर’ में आ जावेगा, उसका सर्व श्रेय तुम साधित कर दोगी ।’

‘यह सब तुम्हें करना होगा । तुम रामवल्लभा हो ! यह तुम्हारे परमश्रेष्ठ का चरित है । इसमें तुम पूर्ण सहायता अवश्य ही दोगी । हाँ यदि भूलें हो जावें तो क्षमा कर देना । क्योंकि तुम सीता हो माँ ! क्षमामयी भूमिकी तुम पुत्री हो ।’

इस श्लोक में उन जगदीश्वरी से गोस्वामी जी ने यही प्रार्थना की है । इसमें उन्होंने कहां से और कैसे शक्ति ली है, क्या यह भी अभी बताने को शेष रह गया है ? महाशक्ति योग-माया से सीधे अंतर का प्रेम तार जा लगा है । सीधे केन्द्रसे ही शक्ति मांगी जा रही है ।

एक प्रकार से प्रार्थना यही बालकांड की समाप्त होती है । आगे के दो श्लोकों में से एक में वर्ण्य के स्वरूप का वर्णन करेंगे और दूसरे में अपनी वर्णन शैली बतावेंगे । उन दोनों से पाठकों

के लिये प्रकाश पथ प्रशस्त होता है । अपने लिये तो यहीं तक पथ प्राप्ति की पूर्णता हो गई । अतः सभी श्लोकों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लीजिये ।

पहिले श्लोकमें वाणी-सरस्वती से वर्ण, अर्थ संध, रस, छन्द की मांग करते हुये गणेशजी से कहा गया कि अपने गणों को सम्भाले रहें । कोई विघ्न न करने पावे । आप मङ्गल करें । दूसरे श्लोक में श्रद्धा विश्वास रूप श्री उमामहेश्वर से अंतःकरण में उस दिव्य लीला के दर्शन कराने की प्रार्थना की गई । तीसरे श्लोक में गुरुदेव रूप में भगवान् शङ्कर से कहा गया कि अब उस अन्तःकरण में देखी हुई लीलाका मैं वर्णन करने चला हूँ । आप आशीर्वाद दें कि मेरे प्रमादवश जो दोष आ जावें, उधर ध्यान न देकर लोक में इसका आदर हो । चौथे श्लोक में महर्षि बाल्मीकि एवं श्री महावीर जी से पथ प्रदर्शन की प्रार्थना की गई ।

अब इस पांचवें श्लोकमें गोस्वामीजी कहते हैं जगन्माता से कि आप इसमें सहायता करके इसे निर्विघ्न पूरा करा दें । श्री-गणेश जी तो केवल अपने गणों के उपद्रव से ही रक्षा करेंगे । प्रारब्धवश जो रोगादि और विघ्न आ सकते हों, उन्हें आप रोके रहिये । आप क्लेशहारिणी हैं । संसार की 'उद्भव' स्थिति संहारकारिणी होने से इसमें समर्थ भी हैं और हे सर्व श्रेयस्करी यह परम श्रेयस्कर कृत्य भी है । अतः कोई भी प्रारब्धादि इसमें विघ्न न कर पावें । ऐसी आप कृपा करें ।

‘यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा,
यत्सत्त्वादमृवैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः,
यत्पादवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावितां,
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥’

ब्रह्मादि देवताओं सहित सम्पूर्ण विश्व जिसकी माया का वशवर्ती है, रस्सीमें सर्पकी भांति यह सम्पूर्ण दृश्य सत्य न होने पर भी जिसकी सत्तासे सत्यसा प्रतीत है, संसार सागर से पार होने वालों के लिये एकमात्र जिसके श्रीचरण ही नौकाका काम देते हैं, उस समस्त कारणोंके परम कारण रामनाम वाले श्रीहरि की हम बन्दना करते हैं ।

सम्पूर्ण विश्व, ब्रह्मादि देवता उसीकी योगमायाके वशमें हैं । वही इन सबका संचालक है । उसीके अलक्षित संकेतसे विश्वकी सब क्रियायें हो रही हैं । वह न चाहे तो कोई भी कुछ करनेमें समर्थ नहीं ।

‘नट मर्कट इव सबहिं नचावत ।

राम खगेस वेद अस गावत ॥

इस सबहिं की सीमा ‘आब्रह्म भुवनात्’ है । ब्रह्मलोक तकके सब लोक उसीकी इच्छा-पराधीन नियोजित कर्तव्यका वहन कर रहे हैं ।

जैसे अंधेरेमें पड़ी हुई रस्सी सांप प्रतीत होती है और वह प्रतीति भय-कंप प्रभृतिका कारण होती है । उस समय रस्सी नहीं, सचमुच सांप ही ज्ञात होता है । वैसे ही यह समस्त दृश्य जगत प्रतीति मात्र है । उस परमतत्व की सत्यताके कारण ही प्रतीत हो रहा है । वही रस्सी स्थानीय सत्यतत्व है ।

जासु सत्यता ते जड़ माया ।

भास सत्य इव मोह सहाया ॥

जिसके सत्य होनेसे यह जड़ माया सत्यसी-अमृषा जैसी प्रतीत होती है । वस्तुतः वह सत्य है नहीं । वह केवल सत्य जैसी प्रतीत ही हो रही है । जब वही सत्य नहीं है तो उससे दुःख, बन्धन प्रभृति कैसे हो सकते हैं ? रस्सीमें सांपका भ्रमभी तो भय, कम्प तथा तीव्र भयमें ज्वरादिका कारण हो जाता है ।

‘जदपि मृषा तिहुँकाल महं ।

भ्रम न सकै कोउ टारि ॥’

माया तीनों कालोंमें असत्य है । वह न है, न थी और न हो सकती है । इतने पर भी उसके होने का भ्रम कोई टाल नहीं सकता । जब तक भ्रम न टले, तब तक तो ‘संस्मृति मूल मोह-मद नाना’ लगे ही रहेंगे । जन्म मृत्यु का चक्र चलता ही रहेगा । इस भ्रम को मिटाना ही परम पुरुषार्थ है ।

मायाके दो रूप गोस्वामीजी ने बतलाये हैं—

‘मैं अरु मोर तोर तैं माया ।

जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ॥’

यह जीवकृत माया है । यह मैं हूँ, यह मेरा है । यह तुमहो, यह तुम्हारा है । इस प्रकारकी भावना जीवने ही की है । यही माया तीनों कालमें मृषा है । इसी भ्रमको हटाना है । किसी वस्तु या शरीर पर किसीका नाम नहीं लिखा । कोई भी पदार्थ किसीका नहीं । सब प्रभुके हैं । उसमें मैं और मेरा यह जीव का निर्माण है । उसीका अहंकार है । यह सर्वथा मिथ्या है । इसको मिटाने से आवागमन-चक्र समाप्त होता है ।

‘गो गोचर जहँ लगि मन जाई ।

सो सब माया जानेहु भाई ॥’

जहां तक इन्द्रियां जाती हैं, जो कुछ मन सोच सकता है, वह सब माया है। यह प्रभु की योगमाया है। यह किसी को बन्धनमें नहीं डालती। पदार्थ नहीं बांधते। उनमें अहंकार एवं आसक्ति ही बन्धक है। इस योगमाया का निवारण आप नहीं कर सकते। एक व्यक्ति पदार्थों को ब्रह्मरूप देखने लगे या एक भक्त 'सचराचर रूपरासि' में भगवन्तका साक्षात् कर ले तो स्वाभाविक है। क्योंकि योगमाया तो प्रभुका ही स्वरूप है। प्रभु से अभिन्न है। वे श्रीजानकीजी ही की रूप हैं। 'गिरा अर्थ जल बीच सम' वे कहने भर को भिन्न, वस्तुतः प्रभुसे अभिन्न हैं। अतः उस अभिन्नमें प्रभुका साक्षात् स्वाभाविक है। लेकिन इससे पदार्थका अभाव नहीं होता। 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' बोध होने पर भी भोजनके लिये रोटीही चाहिये, पत्थर नहीं। राम स्वरूप देखने पर भी वृक्ष मनुष्य न हो जायगा। वह वृक्ष ही रहेगा। यह ईश्वरकी योगमाया अनादि एवं नित्य है। उससे माथापच्ची करना व्यर्थ है।

मायासे परित्राण कैसे हो ? इसका उत्तर है कि उसी सर्वेश के श्रीचरणों का सहारा लेने से। उसके पादपद्म ही एकमात्र संसार सागरसे पार कर सकते हैं। और जितने भी साधन हैं, वे तो सब सापेक्ष हैं। उनके द्वारा उद्देश सिद्धिमें संदेह बना रहता है। निरपेक्ष एवं असंदिग्ध साधन तो उस सर्वेशके चरण कमलोंका आश्रय ही है। यही एकमात्र साधन है।

वह सभी कारणोंके परम कारण हैं। उनका कोई कारण नहीं। वे श्रीहरिः हैं। स्मरण मात्रसे चित्तको हरण करके अपने में लगा लेते हैं। पाप प्रमाद प्रभृतिका कारण हर लेते हैं। अतः उनके स्मरणसे ही भवाब्धिसे पार हुआ जा सकता है। वे हैं श्रीराम। श्रीअवधेश कुमार।

‘राम ब्रह्म व्यापक जग जाना ।

परमानन्द परेस पुराना ॥’

वही सर्वकारण कारण परमेश, विश्व विश्रुत, परमानन्दधन, व्यापक ब्रह्म श्रीकौशलकिशोर श्रीराम हैं। इस व्यक्त सगुण सौंदर्य-माधुर्य मूर्तिके श्रीचरणों में अनुराग करके ही मनुष्य अत्यन्त दुस्तर इस संसारसे पार हो सकता है।

इस श्लोकमें गोस्वामीजी ने पाठकोंके लिये प्रकाशपथ प्रस्तुत किया है। प्रत्येक जीव सुख चाहता है—अबाध असीम सुख। वह सुख भला इस मायिक जगतमें कहाँ? अतः इससे पार होकरही उसे उपलब्ध करना होगा। इस संसारसे पार होना सरल नहीं। उसका एकही उपाय है। श्रीराघवेन्द्रके श्रीचरण रूपी नौकाका आश्रय। इस आश्रयकी उपलब्धिके लिये यह श्रीरामचरित-मानस निर्मित हुआ है। इसके पठन-पाठन एवं मनन से उन पादपद्मोंमें प्रेम होगा, जो भव-पाथोधिसे पार कर देगा।

यह सगुण चरित है। इसमें मुनियोंको भी भ्रम हो जाता है। इसीसे सावधान किये देते हैं कि श्रीराम साधारण मानव नहीं हैं, यह स्मरण रखना। उन्हींकी मायाके वशवर्ती ब्रह्मादि सब देवता तथा संसार है। शारदा मंथराकी मति उन्हींकी इच्छा से फेर गई और उन्हीं की इच्छासे देवताओंने चित्रकूटमें लोगों के मन में उचाट किया। उनकी इच्छा के विरुद्ध देवता कुछ नहीं कर सकते थे। उनकी सत्ता से तो यह जड़ जगत चैतन्यसा प्रतीत होता है। उनकी योगमायाने इस विस्वको चैतन्य प्रतीत कर रखा है। अतः भला उन पर मेघनादके मायासर्प प्रभाव डाल सकते थे? यह तो उन्हीं की लीला थी। उनका पूरा चरित, रावण-युद्ध प्रभृति तथा सीता विलापादि केवल नाटक है। उन्हें नाटक करना प्रिय है। यह इतना बड़ा विश्व नाटक उन्होंने निराधार खड़ा कर दिया है। अतः उनके विशुद्ध रूप को जान-कर आगे बढ़ने से मोह न होगा।

‘नानापुराणनिगमागमसम्मतं

यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा

भाषानिवंधमतिमंजुलमातनोति ॥’

अनेक पुराणों, वेदों तथा तंत्रों द्वारा सम्मत एवं रामायण (वाल्मीकि) में कथित तथा कुछ और भी मिलाकर तुलसीदास अपने अंतः सुख के लिये मंजुल मति से यह श्रीरघुनाथ चरित (हिन्दी) भाषा में निर्मित करते हैं ।

पुराणों की संख्या नाना है । अष्टादश महापुराण, अष्टादश उपपुराण ये छत्तीस तो हैं ही, माहात्म्य ग्रन्थ तथा और भी बहुत से ग्रन्थ जैसे नारद पांचरात्र, गर्ग संहिता प्रभृति पुराणों में ही गिनी जाती हैं । गोस्वामी जी ने रामायण एक वचन कहकर ज्ञात होता है कि श्री वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त दूसरी आध्यात्म, भुशुण्डि प्रभृति रामायणों को पुराण कोटि में गिना है । यही ठीक भी है । आज इतिहास की दृष्टि से वाल्मीकीय ही ग्रहण की जाती है ।

कहने को तो वेद चार हैं । किंतु उनकी शाखायें सोलह सहस्र से भी ऊपर हैं आज जिन्हें वेद कहा जाता है, वे कुल पांच सात शाखा हैं । शेष सभी अप्राप्त हो गई हैं । प्रत्येक संहिता शाखा का एक उपनिषद् एवं एक ब्राह्मण होता है । उपनिषद् तो एक सौ तीस के लगभग प्राप्य हैं, पर ब्राह्मण उससे कम ही । मंत्र संहिता, उपनिषद् एवं ब्राह्मणों को वेद कहा जाता है । इसीको निगम कहते हैं ।

वेदों की भांति तंत्र ग्रन्थ भी अनादि हैं। जैसे वेद भगवान् विष्णु की श्वास से प्रकट हुये हैं, वैसे ही तंत्र भगवान् शङ्कर से। तंत्रों को आगम कहा जाता है। यह तान्त्रिक संप्रदाय का मत है। कुछ विद्वानों का मत है कि पुराणादि में जो आगम शब्द है, वह तंत्रों के लिये नहीं आया है। वह वेद एवं पुराण के मध्य के ग्रन्थ, उपवेद, गृह सूत्र तथा स्मृतियों के लिये आया है। गोस्वामो जी ने इसी पिछले अर्थ में आगम शब्द का उपयोग किया है। क्योंकि वे एक विश्वासी सनातनधर्मी वैष्णव थे, अतः तंत्रों का अध्ययन या उनमें से कुछ संकलन उन्होंने किया होगा, ऐसा जान नहीं पड़ता। उन्हें अपने आराध्य के चिंतन को छोड़ तंत्रों के जाल में पड़ने की आवश्यकता थी नहीं।

श्रीरामचरितमानस में जो कुछ भी है, वह शास्त्र सम्मत है। नाना पुराण, निगम एवं आगम के अनुकूल हैं। उसमें न तो मनमानी है और न कल्पित सिद्धांत की भरमार। अवश्य ही बाल्मीकीय रामायण में जो कथा है, उससे कुछ और भी है। उस कथा में कल्प भेद से कुछ परिवर्तन हुआ है। यह सब भी शास्त्रों के आधार पर ही है। कुछ और भी है अपना भाव। फुलवारी और अयोध्याकांड का अज्ञात 'तापस' इसी कुछ और में है। ये प्रसङ्ग किसी ग्रन्थ से नहीं लिये गये हैं।

भाषा में इसकी रचना स्वांतः सुख के लिये हुई है। न तो काव्यकला प्रकट करने के लिये और न प्रसिद्धि के लिये। श्रीरघुनाथ हृदयेश हैं, परम प्रिय हैं। उनके गुण एवं लीला के चिंतन में हृदय को सुख मिलता है। अतएव इसी बहाने उन प्राणेश के गुण-लीला का चिंतन करके हृदय को आनंदित किया गया है।

मंजुल मति से इसका निर्माण हुआ है। किसी का न तो खण्डन करना था और न किसी का पक्षपात। आलस्य प्रमाद

के कारण कुंठित प्रतिभा होने पर बलात् तुकबंदी भी नहीं की गई है। बुद्धि शुद्ध थी। कोई स्वार्थ न था भगवान के गुणगान में आनंद आता था। इसी प्रकार शुद्ध सात्विक निरपेक्ष बुद्धि ही इस रघुनाथ गाथा का निर्माण हुआ है।

वेदों में जो सूत्ररूप से सिद्धांत हैं, पुराण इतिहास के सत्य आख्यान के द्वारा उनका स्पष्टीकरण करते हैं। यही श्रीरामचरितमानस की शैली है। वेदों का सार सिद्धांत मानस के पात्रों के रूपमें साकार हो गया है। इसीसे पहिले पुराण लिये गये। ये सब पात्र एवं उनके चरित पुराणों के हैं। जितने भी सिद्धांत 'मानस' में आये हैं, वे वैदिक हैं। वेद सम्मत है। आगम है आचार शास्त्र। स्मृति एवं गृह्य सूत्रों में आचार है। उपवेदों में समाजोपयोगी विद्याएँ हैं। ये दोनों रामचरित मानस में आगम से आई हैं। स्मृतियों का आचार एवं उपवेदों की ज्योतिष-वैद्यक प्रभृति विद्याओं का समावेश उन्हीं मूल ग्रन्थों की सम्मति पर है।

श्रीबाल्मीकीय रामायण से गोस्वामी जी का श्रीरामचरित पूरा नहीं मिलता। इसका कारण है। कल्पभेद की कथाओं के कारण गोस्वामी जी ने दूसरे शास्त्रों से चरित लिये हैं। उनके श्रीराम उनके आराध्य हैं, केवल कथा नायक नहीं। इस कारण स्थान-स्थान पर उनके हृदयगत भावोंका उसमें समावेश होता गया है। यही बात उन्होंने 'कचिदन्यताऽपि' में स्पष्ट सुझा दी है।

किसी एक रामायण का प्रमाण मानकर क्यों रामचरित नहीं लिखा गया? उसमें कुछ यहां कुछ वहां से संग्रह करने की क्या आवश्यकता थी? क्यों उसके लिये कोई ललित छंद न चुनकर साधारण दोहे-चौपाई जैसे छंद चुने गये? इन या ऐसे और भी प्रश्नों का समुचित उत्तर है और विद्वानों ने इस पर बहुत लिखा है, पर गोस्वामी जी का उत्तर इस पर बहुत सीधा

है। यह रचना समाज या समालोचकों के लिये नहीं हुई है। यह मैंने अपने हार्दिक सुख के लिये लिखी है। मुझे जिसमें आनंद आया, वह किया गया।

इसमें किसी सिद्धांत का यदि प्रतिपादन है, तो वह सत्य है। पक्षपातजन्य प्रतिपादन किसी का नहीं है। इसमें यदि किसी का खण्डन हुआ है तो वह मिथ्या का पाखण्ड का। द्वेष-वश किसी का खण्डन नहीं किया गया है। इसके सिद्धांतों एवं आचारों में प्रमादवश कोई भूल नहीं हुई है। यह निष्ठांत सत्य है। क्योंकि इसकी रचना विशुद्ध बुद्धि से हुई है। शुद्ध बुद्धिका स्वभाव है कि वह पक्षपात या द्वेष नहीं करती। उसके द्वारा केवल सत्य का समर्थन तथा पाखण्ड का खण्डन होता है। उसमें प्रमाद नहीं होता। भ्रम नहीं होता। इसके द्वारा भूलें नहीं होती।

पाठकों को श्रीरामचरित मानस पढ़ते समय यह प्रकाश साथ रखना चाहिये। इसमें रचना विधि के सम्बन्ध में सूचित किया गया है। कहा जा रहा है कि पुराण-निगम एवं आगमों के वृहत् बन में कहां तक भटकोगे ? उसमें से रत्न निकाल लेना सरल नहीं। यहाँ उनका सार एकत्र है। अमूल्य रत्न एक ही स्थान पर राशिभूत किये गये हैं। चौकोमत ! यहां आने का एक ही अर्थ है कि तुम्हें शास्त्रों पर श्रद्धा करनी होगी, उन पर विश्वास करना होगा। कल्पित सिद्धांतों एवं पथों के लिये यहाँ स्थान नहीं है।

‘संशयात्मा विनश्यति। संशय मत करो ! संदेह और तर्क के लिये कोई स्थान नहीं है। जो कुछ भी है, अक्षर अक्षर, तिल तिल ज्यों का त्यों ठीक है। कहीं रुकने की आवश्यकता नहीं। यह निर्माण विशुद्ध बुद्धि का है ! श्रद्धा करो। विश्वास करो ! आंख मंद कर अनुगमन करो ! विशुद्ध बुद्धि की कृति केवल उस

विशुद्ध धामतक पहुँचाने ही आती होंगी । उसमें पतन का कोई भय न होगा । इसके आश्रयणसे निश्चय बुद्धि शुद्धि हो जायगी । उस परमानन्द त्रिमूर्ति की प्राप्ति में कोई भी बाधा इसका आश्रय लेने पर तुम्हें रोक सकने में समर्थ हो नहीं सकती ।



‘यस्याङ्गे च विभाति भूधग्मुता देवापगा मस्तके,
 भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरगि व्यालगाट् ।
 सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा,
 शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशंकरः पातु माम् ॥

जिनकी क्रोड़ी में श्री पार्वती जी, मस्तक पर सुरसरि, ललाट में बालशशि, कण्ठ में हलाहल एवं हृदय पर सर्पराज शोभित हैं, वही ये विभूति भूषित, महादेव, सर्वेश्वर, सर्वस्वरूप, सर्वव्यापक, कल्याणमय, चन्द्रोज्ज्वल भगवान शङ्कर हमारी सर्वदा रक्षा करें ।

भगवान शङ्कर अर्धनारीश्वर हैं । उन्होंने पार्वती जी को अपना आधा शरीर ही बना लिया है । सदा वे उनकी क्रोड़ी में—उनसे अभिन्न रहती हैं । वैष्णवों के परमाचार्य श्री भोलेबाबा ने अपने आराध्य का चरणोदक मस्तक पर धारण कर रखा है । गङ्गाजी को प्रभु का चरणामृत होने के कारण जटाओं से वे उतारते ही नहीं । उनकी चपलतरल कल्लोलें योगिराज की समाधि में कोई बाधा नहीं देती ।

ललाट पर बालचन्द्रमा है । प्रतिपदाका चन्द्रमा इसी से दृष्टिगोचर नहीं होता कि उसकी एक कला भगवान शिवके मस्तक पर विराजती है । षोडशकला चन्द्रमा पन्द्रह दिन में ही क्षीण होता और एन्द्रह दिन में ही बढ़ता है । उसकी एक कला इस क्षय एवं वृद्धि से परे शम्भु शीश पर रहती है । वस्तुतः पूर्णिमा का भी चन्द्र होता पन्द्रहकला ही है । शरद पूर्णिमाका वह षोडशकला पूर्ण रहता है । कहते हैं, उस दिन भोले बाबा गोपी-

श्वर बनकर ब्रज की महारास में पहुँचे थे। तब से बराबर पहुँच जाया करते हैं। अतः उस दिन वह कला जो सिर पर रहती है, शशि को प्राप्त हो जाती है।

शङ्कर जी हैं ही नीलकण्ठ। सम्पूर्ण विश्व समुद्र-मन्थन से निकले महाविष से जला जा रहा था। लोक कल्याण के लिये उसे उठाकर आप पी गये और कंठ में धार लिया। कंठ नीला हो गया विष के प्रभाव से। हृदय पर सर्पराज लठकाये रहते हैं। आपको यही सर्पाभरण सबसे प्रिय है।

देवताओं में सर्वश्रेष्ठ वे देव देव सर्वेश्वर, जो सर्व स्वरूप हैं, सर्वव्यापी हैं, कल्याण स्वरूप हैं, अपने चन्द्र गौर शरीर पर विभूति मले गोस्वामी जी के सामने खड़े हैं। गोस्वामीजी सामने संकेत करके कहते हैं 'सोऽयं' वह ये भगवान शङ्कर सर्वदा मेरी रक्षा करें।

यह अयोध्याकाण्ड का मङ्गला चरण है। आनन्दोत्सव बीत चुका है। अब वनवास की बारी है। त्रेता और कलियुग का भेद स्थूलता में है। गोस्वामी जी के मानस में तो त्रेता की अवस्थिति है। त्रेताकी कथा चल रही है और वे स्वयं भी आराध्य के साथ एक हो रहे हैं। बालकांड में तो जन्म विवाहादि आमोद था। अब सरकार के साथ बड़े बीहड़ वन में जाना होगा। पता नहीं वहां भोजन मिले या न मिले, जल मिले या न मिले। जङ्गल में भूख-प्यास लगे तो क्या होगा? अन्धकार, विपैली औषधियाँ, वन पशु, सर्पादि अनेक बाधाएँ वहां होती हैं। इन सब आपत्तियों में अब प्रवेश करना है।

गोस्वामी जी के मानस नेत्रों के सम्मुख विभूति लगाये चन्द्रोज्ज्वल भगवान शङ्कर खड़े हैं। अतः गोस्वामी जी उनसे

प्रार्थना करते हैं। 'माता अन्नपूर्णा आपकी गोदी में रहती हैं और गङ्गा जी मस्तक पर। क्षुधा पिपासा में आप बड़ी सरलता से मेरी सहायता कर लेंगे। अन्धकार में प्रकाश करने के लिये आपके ललाटपर चन्द्रमा हैं ही। आप तो हलाहल पी चुके और सर्पराज को पहिने हैं, अतः विपैली औषधियों तथा सर्पादि का निवारण आपके लिये विनोद रहेगा। इस प्रकार मेरे आधि-भौतिक कष्टों का निवारण आप करते रहें।

आप महादेव हैं, देवताओं के भी देवता हैं, सर्वस्व रूप है, अतः किसी भी स्थान के अधिष्ठाता देवता का यदि मुझसे प्रमाद या अज्ञानवश बन में कुछ अपमान हो जाय; जो कि असम्भव नहीं है, तो वह रुष्ट होगा और पीड़ा देना चाहेगा। आप उसे शांत कर लें। उसे रोक लें और इस प्रकार आधिदैविक कष्टों का निवारण भी आप करते रहें।

आप कल्याण स्वरूप हैं। शिव हैं, शङ्कर हैं। बनके कष्टों से मन घबड़ावेगा। अनेक प्रकार के सङ्कल्प विकल्प उठेंगे। अनेकों स्मृतियां चित्तको उद्विग्न करेंगीं। आप शशिनिभ हैं। मनका अधिष्ठाता चन्द्रमा हैं। आप भी वैसे ही हैं। आप मन में शांतिका संचार करें। उसमें कल्याण भावना जागृत करें। प्रभुके साथ चलना परम सौभाग्य है-यही जीवका परम कल्याण है। यह बात विस्मृत न हो। हे प्रभु, आप इस प्रकार मेरे आध्यात्मिक क्लेशों का निवारण करें।

आप सर्वगत हैं। सर्वव्यापी हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ आप न हों। अतएव सदा इसी प्रकार आप मेरे समीप सम्मुख ही रहेंगे। आप मेरी सर्वदा सब प्रकार से रक्षा करते रहें।

हैं तो योगीश्वर और सदा अङ्क में पार्वती जी रहती है। 'उमा पतित्वे सतिचार्ध्व रेत से' सम्पूर्ण ऊर्ध्वरेता हैं। नारी भी

एक नहीं, दो । एक अङ्क में और एक सिर पर । मस्तक पर सुधाकर और कण्ठमें गरल । हृदय में अपार करुणा और ऊपर सांप । लगायेंगे विभूति और हैं देव श्रेष्ठ सर्वेश्वर । ऐसी विषमता क्यों ? क्योंकि वे सर्व स्वरूप हैं । विषमताओं के प्रतीक हैं । फिर भी वे स्वतः कल्याण स्वरूप हैं, सर्वव्यापक शुद्ध सत्व-गुणकी मूर्ति चन्द्रोज्ज्वल हैं । उनमें रज तथा तमका लेश नहीं । वही प्रभु सदा सर्वदा कल्याण करें ! रक्षा करते रहें ।

अयोध्याकांड की कथा पर ध्यान रखिये ! भगवान शिवके रूप में पूरी कथा का प्रकाश प्राप्त हो गया है । जगज्जननी महलों में न रहेगी, वे तो पार्वतीकी भाँति सदा सज्ज रहेगी । अन्ततः बन पर्वतों में भी तो जाना हैं । जिनके श्री चरणों से निकली सुरसुरि भगवान शङ्कर मस्तक पर रखते हैं, वे सुरसरि के उद्गम बनकों पवित्र करेंगे । चरणों से निकलकर सुरसरि जटाओं में और हिमालय पर पहुँची तो उनके उद्गम भी क्यों न बन पर्वतों में विचरण कर आवें ।

मस्तक पर बालशशि है । विश्वको उज्ज्वल कीर्ति से प्रकाशित करना है और मुनियों के संताप रूपो गरलको पी जाना है । ये व्यालराट् भगवान शेष के कारण स्वरूप लक्ष्मण कुमार साथ में क्या चले, हृदय पर निवास कर लिया उन्होंने । उनसे अधिक प्रिय भला और कौन प्रभु का होगा ।

वह देवताओं से भी सम्मानित, अयोध्या का सर्वाधिप भस्मरमा चला । उस विपुल वैभव ने वल्कल पहिन लिये । वह अब नरेश ही नहीं रहा, अब तो वह सबका हो गया । कोल, भील एवं निषाद भी अब उसे पा सकेंगे । विश्व के कल्याण के लिये यह त्याग है । वह स्वयं आज शिव कल्याण स्वरूप हो गया है । आपने उन श्री राघवको घनश्याम ही देखा है । देखिये

तो आज वे कितने उज्ज्वल हैं। उनके अपूर्व त्यागने उन्हें चन्द्रो-
ज्ज्वल बना दिया है। यही जगत की रक्षा के लिये माकेत से वन
में प्रस्थान करने वाले कल्याणकारी (शङ्कर) सदा हमारी रक्षा
करें। आज वे रावण से पीड़ित विश्वकी रक्षार्थ निकले हैं। अतः
गोस्वामी जी भी उनसे रक्षा ही चाहते हैं।

दोनों ही रूपोंमें आगामी कथा के लिये पर्याप्त प्रकाश है
वैसे ये स्थल अत्यन्त रहस्यमय होते हैं। प्रकाश प्राप्त करने
वाला अपने प्रकाश पथको जब स्मृति बना लेता है और स्मृति
सादृश्यके कारण किसी की स्तुति करता है तो यह जानना बड़ा
कठिन होता है कि स्तुति एवं स्मृति में किस प्रकार का सादृश्य
है। अतएव मैं यह नहीं कह सकता कि मेरा बताया सादृश्य ही
ठीक है। अवश्य ही इसी प्रकार का सादृश्य होना चाहिये।
भावुक भक्त पा सकते हैं।

“प्रमत्ततां या न गताभिषेकतस्तथा,
 न मम्ले वनवास दुःखतः ।
 मुखाम्बुज श्री रघुनन्दस्य मे,
 सदाऽस्तु सा मञ्जुल मङ्गलप्रदा ॥”

जो राज्याभिषेक के समाचार से प्रफुल्ल नहीं हुई तथा वन-वास के दुख से मलीन नहीं पड़ी, वह श्री रघुनन्दन के मुखार-विन्द की शोभा हमारे लिये सर्वदा मञ्जुल मंगल-दायिनी होवे ।

यह जगत द्वैधमय है । यहां द्वन्द हैं । सुख के साथ दुःख, हर्ष के साथ विषाद, राग के साथ द्वेष, शीत के साथ उष्ण, इस प्रकार परस्पर विरोधी स्थितियों का अनिवार्य चक्र यहाँ चलता रहता है । कोई स्थिति टिकती नहीं । विश्व का अर्थ ही द्वैध है ।

क्या मंगल और क्या अमंगल ? जैसे दुःख बिना इच्छा एवं प्रयत्न के प्राप्त होता है, वैसे ही कर्माधोन, सुख भी बिना इच्छा एवं प्रयत्न के प्राप्त होकर ही रहेगा । उसके लिये उल्लस-कृत एवं चिन्ता अज्ञानवश होती है । अतः उसके लिये किया गया प्रयत्न व्यर्थप्राय है । बहुधा वह असफल ही होता है ।

प्रत्येक जीव सुख चाहता है । अबाध-अविच्छिन्न सुख चाहता है और दुःख की छाया से भी वह दूर रहना चाहता है । ऐसा सुख जगत में तथा जागतिक पदार्थों में कहां उपलब्ध हो सकता है ? वह तो इस द्वन्द से परे-द्वन्दातीत होने पर ही प्राप्त हो सकता है । नित्य सुख, शाश्वत मंगल तो उस मङ्गलमय के समीप ही मिल सकता है । वही प्राप्त होने वाला सुख वास्तविक सुख है ।

गोस्वामी जी को मंजुल मंगल चाहिये । इस जगती का सुख एवं मङ्गल तो दुःख तथा अमंगल की आशंका से म्लान रहता है । वह तो नीरसप्राय होता है । भला उसमें मंजुलता कहाँ ? इस परमतत्त्व से एकाकार हो जाने को आप जीव का मंगल कह सकते हैं; पर मिश्री हो जाने में मंजुलता नहीं है । मंजुलता है मिश्री का रसास्वादन करने में । गोस्वामी जी उस आनन्दघनके सामीप्य का आनन्द चाहते हैं । वह सौन्दर्य माधुर्य का घनीभाव सदा सम्मुख रहे । यही मंजुल मंगल है ।

ऐसा मंजुल मङ्गल सदा चाहिये । मन का स्वभाव ही चंचल है । वह एकत्र कहीं रहता नहीं अच्छी से अच्छी वस्तु से भी अन्ततः वह ऊँच ही जाता है । अतः कहीं वह सरकार के समीप से भी भाग न आवे, इसी से पहिले कहे देते हैं कि मंजुल मङ्गल तो हमें सदा को चाहिये । उसमें व्यवधान न पड़े ।

मंजुल मंगल सदा को दे कौन ? श्री राघवेन्द्र का सान्निध्य तो उन्हीं की कृपा से प्राप्त होता है । वे साधन साध्य तो हैं नहीं । “यमैवेषवृणुते ते मे लभ्यः ।” जिस पर वे कृपा करें, उसे ही प्राप्त होते हैं । लेकिन वे कभी तो नर-नाटक करके श्री महारानीजी के लिये विलाप करेंगे और कभी समुद्र पर रोष । ऐसी स्थितिमें उनकी नाट्य-लीला कहीं चित्त में विक्षेप न करे ? अतः जो सदा एकरस रहे, वही उस मंजुल मंगल को सदा दे सकेगा ।

श्री कौशलेन्द्र की मुखश्री कभी म्लान नहीं होती और न उत्फुल्ल ही । वह सदा एकरस रहती है । मुख मनुष्य के हृदय का दर्पण है । कोई भाव हृदय में है या उसका केवल नाट्य हो रहा है, इसकी सूचना मुखश्री ठीक ठीक दे देगी । श्री सरकार नाट्य तो चाहे जो भी करें, पर हैं तो वे एकरस आनन्दघन । उनकी मुखश्री उस नाट्य में भला क्यों भाग लेने लगी ? वह तो

सच्चे स्वरूप के अनुसार ही रहेगी। अतः गोस्वामी जी उसी नित्य एक-रस मुखश्री का आश्रय सदा मंजुल मंगल को ले रहे हैं।

संत अपने सुख-दुख, मानापमान से ऊपर उठ चुके होते हैं। उन्हें उधर ध्यान देने का अवकाश नहीं होता। 'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता' वे दूसरों के दुःख से कष्ट पाते हैं। उन्हें दूसरों की पीड़ा असह्य हो जाती है। उसे दूर करने के लिये वे बड़े से बड़ा त्याग कर सकते हैं। तिस पर यदि कहीं आराध्यही कष्ट का नाटक करने लगें तो ? ऐसे समय भावुक भक्त हृदय की क्या गति होगी ?

प्रभु अयोध्या का देव-दुर्लभ ऐश्वर्य छोड़कर वन में जा रहे हैं। उस सजल जलद पल्लव मृदुल श्यामांग पर जो विद्युदाभ कौशेयाम्बर वेष्टित रहता था, कठोर वल्कल उन्होंने लपेट लिया है ! रत्न जटित मुकुट कहाँ ? वे सुगंधित तैल सिक्त घुंघराली अलकें बरगद के रूख से चिपका कर जटा बना दी गईं। कहां है वह दुग्ध फेन सी शय्या ? आप तो कुश-साथरी पर पड़े हैं ?

वह कमलारुण चरण और कुश-कंटक-कंकड़ियों से भरा बौहड़ पथ ! हे प्रभु, क्या होगा ? श्री महारानी जी भी नंगे पैर हैं। श्री भरतलाल के हृदय का सबसे बड़ा दुःख यही तो था कि प्रभु नंगे पैर वन में चलते हैं। आतप-वर्षा-वात में पर्णकुटी या तरुछाया में वे सर्वेश यों ही बिता रहे हैं।

मांगना तो सरल था-शंकर जीसे मांग लिया कि उस दिव्य लीला को आप मेरे मानस में प्रत्यक्ष कर दें ! मैं उसका दर्शन करते हुये वर्णन करूँगा ! भोले बाबा तो भोले ही ठहरे। उन्होंने एवमस्तु कह दिया। लीलाओं का प्रत्यक्षीकरण हो गया।

गोस्वामी जी ने उन्हीं अन्तर में साक्षात् की हुई लीलाओं का वर्णन किया है। विवाह तक बड़ा आनन्द था। बड़े उल्लास से लेखनी चलती गई। अथ अयोध्या प्रवास आया है।

कौन सा हृदय है जो अपने आराध्य को इस उपरोक्त दशा में देखकर भी विचित्र न हो उठेगा ? किस वज्र को अपनी मुधि रहेगी ? चरित्र का लिखना या वर्णन करना तो बड़ी दूर की बात है। यहाँ आकर जो होश ही गुम हो जाते हैं। भले ही वह नाटक हो, पर जिसका यह जगत ही नाटक है, वह क्या ऐसा वैसा नाटक करेगा ? साधारण मानव भी जब कुशलतापूर्वक नाटक करता है तो दर्शक आत्म-विस्मृत हो जाते हैं और उसे वास्तविक मान बैठते हैं। उस निखिल लीलाधर के नाटक में सावधान कौन रह सकेगा ?

यहाँ आकर गाड़ी अटकती दीखती थी। इस विषादान्धकार में कैसे प्रकाश मिले और गुणगान चलता रहे। यही प्रकाश मुखाम्बुज श्री में प्राप्त हुआ है। वह सदा एक-रस रहने वाली मुखाम्बुज श्री दृष्टि में रहे तो फिर क्या ? फिर तो नाटक की पोल सामने खुली रहेगी। हृदय में उस एक-रसता का ध्यान बना रहेगा। नाटक चाहे जितना करुण हो जावे, वह मनोरंजन ही करेगा ! उससे कष्ट या विस्मृति न होगी।

यही हुआ भी ! जहाँ कहीं सरकार ने अधिक गहरा स्वांग लिया है, वही गोस्वामी जी अपने पाठकों को भी सावधान करते गये हैं। उन्हें तो मुखाम्बुज श्री ने सदा मंजुल मंगल प्रदान कर दिया। अतः वे भला क्यों विस्मृत होने लगे ?

उस करुणा नाटक को देखकर एक बार हृदय को विचित्र बनाकर सावधान होने में क्या बुद्धिमानी होती ? यह तो ज्ञात

ही था कि अब आगे क्या दृश्य आने वाला है । अतः आरम्भमें ही गोस्वामी जी ने अपने नेत्र श्रीमुख पर स्थिर कर लिये हैं । वे अब एकटक मुखाम्बुजश्री देखते रहेंगे जिसमें सरकार का नाटक उन्हें विस्मृत न कर दे ।



नीलाम्बुज श्यामल कोमलाङ्ग,
सीता समारोपित वाम भागम् ।
पाणौ महायायक चारु चापं,
नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

नीले कमल के समान श्यामल मृदुल शरीर, वाम भाग में शोभित श्री विदेह-नन्दिनी, हाथ में महा शर एवं सुन्दर धनुष (इस प्रकार के मनोहारी वेष) लिये रघुवंश के स्वामी श्रीरामको (हम) प्रणाम करते हैं।

इन्दीवर (नीलकमल) के समान श्यामल वर्ण है प्रभु का। कमलों में सबसे सुन्दर इन्दीवर ही होता है। यह नीलकमल मदन का पंचम सम्मोहन वाण है। इसमें एक मादक सौन्दर्य होता है। प्रभुका श्रीभंग बड़ा मनोहारी है। दृष्टि पड़ते ही वह मन को मोहित कर लेता है। मन अपने वश में नहीं रह जाता। जिसने भी उस इन्दीवराभ को देखा, वह उस पर सम्मोहित हुये बिना रह नहीं सका। मदन का पंचम सम्मोहन वाण भी तो अमोघ है।

नीलकमल देखने में बड़ा सुन्दर होता है। पर उसकी पंखु-डियाँ कोमल नहीं होती, कमल के दल स्पर्श में चीमड़ होते हैं। वे वर्ण की दृष्टि से ही श्रेष्ठ हैं। श्री राघवेन्द्र का वर्ण तो इन्दीवर के समान नील एवं सन्मोहक है, लेकिन स्पर्श में वह उसीके समान चीमड़ नहीं। वह तो कोमल है। अत्यन्त मृदुल है। यही सूचित करने के लिये कोमल आया है।

चित्रकूट में पर्णकुटी के बाहर स्फटिक शिला पर प्रभु आसीन हैं। वाम जानू पर श्री जनकनन्दिनी जी विराजमान हैं।

वे समारोपित है—भली प्रकार सुस्थिर बैठा हैं वहां। बड़ी सुन्दर झांकी है। जैसे नील मेघ स्थिर विद्युत् को लिये बैठा हो।

एक हाथ में महा शायक है। साधारण बाण नहीं है वह। प्रभु के निषंग में साधारण बाण तो रहते ही नहीं। भक्तों का कहना है कि उस त्रोण में केवल पांच बाण रहते हैं। यों गोस्वामी जी ने राघव वध के समय त्रोण से इकतीस बाण लेकर सन्धान करने की बात कही है। जो भी हो, त्रोण अक्षय्य है। श्री राघवेन्द्र के बाण साधारण बाण नहीं। वे प्रयोग होने पर नष्ट नहीं होते। वे अमोघ होते हैं। कोई भी दिव्यास्त्र न तो उन्हें काट सकता और न किसी भी छल-बल या कौशल से वे लक्ष्यच्युत किये जा सकते। वे लक्ष्य वेध करके गिर भी नहीं पड़ते। वे तो अपना काम करके पुनः त्रोण में आकर प्रविष्ट हो जाते हैं।

महर्षि बाल्मीकि ने इनकी एक और विशेषता बतलाई है। यदि प्रभु बाणों के एक ही रहने की इच्छा करके उन्हें न निकालें, जैसे कि इस समय एक महाशर को क्रीड़ा पूर्वक त्रोण से निकाल कर हाथ में लिये हैं, तो त्रोण में ही ये बाण एक रहते हैं। त्रोण से खींचकर बाहर आते ही दस हो जाते हैं। धनुष पर चढ़ाते समय सौ बन जाते हैं और खींचते समय इनकी संख्या सहस्र हो जाती है। छूटने पर लक्ष हो रहते हैं तथा शत्रु के दल में तो ये कोटि शर होकर पहुँचते हैं। एक शर में ही प्रस्तार की इतनी शक्ति है। निषंग में वह पुनः एक होकर प्रवेश करता है। इस प्रकार के बाण को आप बाण कैसे कहेंगे, वह तो महाशर है।

एक हाथ में तो उपरोक्त महाशर है और दूसरे में बड़ा सुन्दर धनुष है। आप इस अत्यन्त सुन्दर धनुष को पहचानते

हैं। उसकी रुचिरता के दो कारण हैं। एक तो वह विश्व में सबसे शक्तिशाली—हां, उस पिनाक से भी, क्योंकि शिव का पिनाक तो जनकपुर में प्रत्यंचा चढ़ाकर खींचते ही टुकड़े उड़ गया था और यह कान तक खींचे जाने पर भी ज्यों का त्यों रहता है, अतः पिनाक से भी शक्तिशाली है। बड़ी मनोहर रचना है इसकी। दूसरे यह बड़े रुचिर समय का स्मारक है।

धनुष यज्ञ और उसमें लक्ष्मण की तेजस्विता, परशुराम का क्रोध, जनकपुरवासियों एवं श्री मैथिली की भुवन सुन्दर भीत मुद्रा तथा परशुराम का पराभव प्रभृति सब स्मरण दिला देता है यह चाप। यह वहीं भार्गव द्वारा समर्पित भगवान विष्णु का शारंग धनुष है। इतना सुन्दर धनुष भला दूसरा कहां प्राप्त हो सकता है।

इस अद्भुत शोभा से युक्त रघुकुल के स्वामी श्री राघव को प्रणाम ! वे अयोध्या का राज्यसिंहासन छोड़कर भले चले आये हों, पर रघुकुल के स्वामी तो वही हैं। रघुकुल का रिक्त सिंहासन अब भी उनकी प्रतीक्षा कर रहा है और वन में शिला पर वामांग में श्री महारानी जी को विराजमान कराये एक हाथ में महा शायक एवं एक में धनुष लिये आसीन प्रभु क्या महा राजाधिराज की छटा को प्रत्यक्ष नहीं कर रहे हैं। सिंहासन भले रिक्त हो, पर महाराज तो रघुवंश के यहां आसीन ही हैं। उनके श्री चरणों में मस्तक स्वतः अवनत होकर कृतार्थ होता है।

बहुत दिनों तक यह मांकी फिर न होगी। आगे आरण्य में तो आप प्रभु को 'पथिगन' ही देखेंगे और फिर तो श्री मैथिली..... अतएव इस मांकी को अन्तर में रखकर चलिये। प्रभु का सिंहासनासीन देखना था न श्री महारानी जी

के साथ ? यह वही मांकी है । दरबारी तड़क भड़क से पृथक होने के कारण आप शान्ति से हृदय में धारण भी कर सकेंगे इसे ।

मंगलाचरण ने पूरे काण्ड की कथा प्रकाशित कर दी है । वह इन्दीवराभ तन आज भी मार्ग के 'आतप वर्षा बात' को सहकर ज्यों का त्यों कोमल है । प्रकृति ने उसकी सेवा ही की है । उसे कष्ट देने का साहस उसमें नहीं । बन में भी वह 'सर्वदा सुप्रसन्न' ज्यों का त्यों है ।

श्री विदेह नन्दिनी भी बन में न तो आकुल हुई हैं और न भीत ही । अयोध्या में सिंहासन पर प्रभु के वामांग में आसीन होने का आयोजन यहां बन में सफल हो गया है । "पिता दीन्ह मोहि कानन राजू" को उस सत्य संकल्प ने अक्षरशः सत्य कर दिया है । यह मांकी यौवराज्य की प्रस्तुति एवं व्याघात दोनों कह देती है ।

अब क्रीड़ा के दिन गये । देव कार्य के लिये आये हैं बन में । कन्धे से कर में आया धनुष और त्रोंण से हाथ में विराजित बाण यही सूचित कर रहे हैं । अब तो इनसे ही काम लिया जाना है ।

'रघुवंश नाथम्' में पूरा भरत चरित है । रघुवंश के सिंहासन पर बैठने की कल्पना भी भरत को असह्य है । वहाँ तो सरकार नहीं तो उनकी पादुका सही । नाथ तो रघुवंश के वही हैं और रहेंगे । इस पूरे कांड में सब ने प्रभु को नमस्कार ही तो किया है अतः हम भी वही कहेंगे-नमामि ।

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं,
 वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहंतापहम् ।
 मोहाम्भोधरपूग पाटनविधौ स्वः सम्भवं शंकरं,
 वन्देब्रह्मकुलं कलंकशमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥

धर्म रूपी वृत्त के मूल, ज्ञान समुद्र को आनन्द देने वाले पूर्ण चक्र, वैराग्य रूपी कमल के लिये सूर्य पाप स्वरूप घोर अन्धकार के नाशक, (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापों को नष्ट करने वाले, मोहरूपी बादलों के समूह को आकाशोद्भव वायु के समान नष्ट करने वाले, ब्रह्म कुल के कलंक (रावण) के नाशक श्री राजा रामचन्द्र के प्रिय शंकर जी को हम बन्दना करते हैं ।

धर्म के आदि आचार्य भगवान शंकर हैं । प्रायः सभी धर्मों का उन्हीं से प्रादुर्भाव हुआ है । भागवत धर्म के तो वे परमगुरु परमाचार्य हैं । उन्हीं की सेवा से पुरुष धर्म को प्राप्त करता है और वही धर्मों के उत्पत्ति स्थान हैं । स्थान स्थान पर मानस में प्रभु ने इस तत्व का अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण किया है । “संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि” भागवत धर्म में तो उन विश्वानाथ की सेवा के बिना प्रवेश ही शक्य नहीं ।

विवेक रूपी समुद्र के लिये वह पूर्ण चन्द्र हैं । उनके संबंध में शास्त्र कहता है ‘ज्ञानिनाम् सगुरुगतिः’ समुद्र पूर्ण चन्द्र को देखकर आनन्दित हो जाता है और उसमें ज्वार आने लगते हैं । ज्ञान की अभिवृद्धि एवं पूर्णता उन्हीं के द्वारा, उन्हीं के ध्यान पूजन से होती है ।

वैराग्य का कमल तो उन्हें पाकर ही प्रफुल्लित होता है । उसके एक मात्र वही सूर्य हैं । भगवान शंकर का स्वरूप ही

वैराग्य को उद्दीप्त करने वाला है। पापों का घोर अन्धकार एवं भय ताप उनके स्मरण से नष्ट हो जाते हैं। भगवान् सूर्य के प्रातः रूप का शिव रूप में, दोपहर को हरि रूप में तथा सायं ब्रह्मा के रूप में ध्यान होता है। प्रातः सूर्य ही अन्धकार का नाश कर देता है। ऐसे ही भगवान् शिव पाप का नाश कर देते हैं। अभी तक शंकर जी को धर्म, चन्द्र एवं सूर्य का रूप कहा। वे प्रथम रूप से अधर्म का, द्वितीय रूप से त्रयताप का तथा तृतीय रूप से अज्ञान-अन्धकार के नाशक बताये गये। धर्म तरु के मूल होने से अघ घन के नाशक, वैराग्याम्बुज भास्कर होने से ध्वान्तापह एवं पूर्णेन्दु होने से तापहारी हैं।

वे शंकर हैं। कल्याण करने वाले हैं। मोह बादलों के समूह के समान हैं। वह मनुष्य के अन्तःकरण पर छाकर उसे आवृत कर लेता है। लेकिन बादलों को वायु क्षण भर में छिन्न भिन्न कर देता है। यह वायु स्वः सम्भव है। सांख्य शास्त्र कहता है “आकाशद्वायुः” आकाश से वायु उत्पन्न हुआ। स्वः ध्यान देने योग्य है। अपने आप में ध्यान करने पर चित्त में स्थित भगवान् शिव मोह के घन पटल को छिन्न भिन्न कर देते हैं।

ब्रह्मकुल—इसे आप ब्रह्मा का कुल माने या ब्राह्मण कुल, दोनों ठीक हैं। महर्षि पुलस्त्य ब्रह्मा के पुत्र थे और ब्राह्मण भी थे, इस कुल में रावण कलंक स्वरूप हुआ। इस ब्रह्मकुल के कलंक को शमित किया श्री रामचन्द्र जी ने। “राज्ञोमूर्धाभिषिक्तस्य, वधोब्रह्मधाद्ग रुः।” अभिषिक्त राजा का वध ब्रह्महत्या से भी बड़ा पाप है। राजा का वध राजा ही कर सकता है। इसीलिये श्री राघवेन्द्र को भूप कहा गया। उन राजाराम के परम प्रिय की वन्दना करते हैं।

इस श्लोक में भगवान् शंकर की अष्टधामूर्तियों की स्थिति है। शंकर जी की अष्टमूर्तियाँ मानी जाती हैं—

‘भूर्जलं वह्निराकाशं वायुर्यज्वा शशिः रविः ।’

पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, यज्ञ, चन्द्र और सूर्य ये शिव की आठ मूर्तियाँ हैं। श्लोक में धर्म के द्वारा यज्ञ, पूर्णेन्दु से चन्द्र, भास्कर से सूर्य, तरु मूल से पृथ्वी, जलधि से जल, स्वः से आकाश, स्वः संभव से वायु, ध्वान्तापह से अग्नि रूप को सूचित इंगित करते हुए स्तुति की गई है।

इस काण्ड में धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति सम्बन्धी पर्याप्त उपदेश आये हैं। अतः उनके आचार्य की स्तुति प्रथम की गई और इन सब में आराध्य रूप भी भगवान् शिवको बतलाया गया।

“जब जब होइ धरम कै हानी” प्रभति से धर्म त्राण के लिये अवतीर्ण हुये प्रभु धर्म रक्षार्थ प्रस्थित हो रहे हैं। उन्हें ज्ञानी ऋषि-मुनियों का परित्राण करना है, स्वयं उन्होंने विरक्तों का वेष बना लिया है। जा रहे हैं वे ब्रह्मकुल के कलंक को शमित करने, क्योंकि वे राजा हैं और यह राजा का कर्तव्य है कि गौ ब्राह्मण को रक्षा करे। रावण भगवान् शंकर का भक्त है, पर शंकर जी श्री राघवेन्द्र को प्रिय हैं एवं राघवेन्द्र प्रिय हैं शंकरजी को। अतः रावण की शिवोपासना उसे बचा नहीं सकेगी। यही बात सूचित की गई।

शंकर जी धर्म के मूल हैं और प्रभु धर्म रक्षार्थ जा रहे हैं। प्रभु ज्ञानियों को निर्विघ्न करने चले हैं और भगवान् शिव जी उन्हें आनन्द देना ही चाहते हैं। उन्हें आनन्द देना ही उनका भी कार्य है। विरक्त जनों को शंकर जी बड़ा आनन्द देते हैं, उनके कमल स्वरूप के लिये तो वे सूर्य ही हैं। प्रभु विरक्तों को न केवल आनन्द देने चले हैं, अपितु स्वयं विरक्त वेश में हैं। इस वेश में तो विश्वनाथ उनके लिये भी आनन्ददायी हैं। आशुतोष पाप नाशक हैं। पापी राक्षसों के नाश के लिये ही राघव प्रस्थित हुये हैं। वे मृदु तापहारी हैं और जगत को रावण

ने संतप्त कर रखा है। उसे ही प्रभु शमित करने जा रहे हैं। मोह को तो कैलाशनाथ क्षण भर भी टिकने नहीं दे सकते और असुरों में अब महामोह आ गया है। श्री अवधेश इसी से उन्हें निवारित करने चले हैं। ब्रह्मकुल के कलंक को शमित करने वाले हैं पार्वती नाथ, कलंकित चन्द्र को सिर पर धारण करके निष्कलंक कर दिया है उन्होंने। रावण भी ब्रह्मकुल का कलंक है। श्रीराम उसे शमित करने जा रहे हैं। श्रीराम शंकर जी को प्रिय हैं और शंकर जी प्रिय हैं राघवेन्द्र को। अतः रावण का शिवोपासक होने पर भी मारा जाना निश्चित है।

मानस के सभी काण्डों का मंगला चरण मंगलमय भगण से प्रारम्भ हुआ है। वही परंपरा यहां भी रही है। इस काण्ड के प्रारम्भ में भगवान शंकर की स्तुति है। प्रभु रावण संहार को चल पड़े हैं। इसी काण्ड में रावण ने सीता हरण भी किया है। वह अपूर्व शिवभक्त है। अतः गोस्वामी जी इस प्रार्थना में स्मरण दिला रहे हैं कि आशुतोष, दशानन आपके सभी स्वभावों के विरुद्ध आचरण करने वाला है और श्रीराम आपको प्रिय हैं, तथा आपके अभीष्ट कार्यों को ही पूरा करने जा रहे हैं, अतएव आपको यह पक्ष लेना है।

इस काण्ड में पहिले जयन्त प्रसंग में अधर्म शमन, फिर अत्रि आश्रम में ज्ञान प्रसंग, शरभंग प्रसंग में वैराग्य का साक्षात् रूप शरीर त्याग, सूर्यणखा एवं खरदूषण नाश में पाप नाश, मारीच प्रसंग मोह प्रसंग और सुतीक्ष्ण प्रसंग तो ताप हरण प्रसंग है। भगवान शंकर की कृपा से ही इन प्रसंगों का हृदय में दर्शन होता है। ब्रह्मकुल के कलंक रावण के उपशम के इस प्रसंग का दर्शन उन श्रीराम-भूप के परम प्रिय आशुतोष ने किया है, अतः उनकी बन्दना की गई है।

‘सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं,
पाणौ वाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम् ।
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं,
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ॥’

नवीन जलपूर्ण बादल की भांति आनन्ददायी श्यामसुन्दर शरीर, अत्यन्त मनोहर पीताम्बर धारण किये, हाथों में धनुष और बाण तथा कमर पर श्रेष्ठ तरकश कसे; खिले हुये कमल के समान विशाल नेत्र तथा मस्तक पर जटाजूट धारण करने से अत्यन्त सुशोभित, श्री महारानी जानकी जी तथा श्री लक्ष्मण-लाल जी के साथ मार्ग में जाते हुये सुन्दरतर श्रीराम का ध्यान करते हैं ।

नीलिमा—सान्द्रपयोद नीलिमा दो बातों की प्रतीक है । एक तो अनन्त की दृष्टि की शक्तिसे परेकी । क्षितिज क्यों नीली दिखाई देती है ? दूर मैदान में क्षितिज पृथ्वी से क्यों लगी प्रतीत होती है ? वस्तुतः क्षितिज कोई वस्तु नहीं । हमारी दृष्टि शक्तिकी वह सीमा है । जिस सीमासे आगे हमारे नेत्र नहीं जा सकते, बस आगे नीला नीला सपाट दिखाई देता है । साधारण लोग उसे आकाश कहते हैं और परिमार्जित भाषामें उसका नाम क्षितिज है । प्रभु का नीला रंग यह बतलाता है कि वे नेत्रोप-लक्षण समस्त मन-इन्द्रियादि की पहुँचके परे हैं । वहां ऐन्द्रियक शक्ति जा नहीं पाती है ।

दूसरे प्रकाश का केंद्र नीला होता है । प्रखरतर प्रकाश नील-वर्ण हो जाता है । वे प्रकाश के केन्द्र हैं । प्रकाश की पराकाष्ठा हैं प्रभु ।

‘सबकर परम प्रकासक जोई ।

राम अनादि अवधपति सोई ॥’

स्थिर विद्युतके समान सुन्दर पीताम्बर उन्होंने धारण कर रखा है। प्रभु तो बन में हैं। बल्कल-वसनधारी हैं। यह पीताम्बर कहां से आ टपका? पीताम्बरका अर्थ आप कौशेयवस्त्र ही क्यों करते हैं? उस प्रकाश के केन्द्र पर आच्छादन बनकर बल्कल भी चमक उठता है। बल्कलका रंग होता है गैरिक और अंगकी कांति है नील। नीलकांति भीतरसे आने के कारण बल्कल सुन्दर पीताम्बर बन गया है।

मार्गमें चल रहे हैं। जाना है दण्डकारण्य में। असुरों का प्राबल्य है इस पथमें। अतः दोनों तूणीर कमरमें पीछे की ओर कस लिये हैं। उनमें भरे बाणोंके पुंखभाग गर्दनके दोनों ओर से दिखाई दे रहे हैं। दाहिने हाथमें बाण है और बायें हाथ में प्रत्यंचा चढ़ा हुआ धनुष।

मुखपर न क्लांति है और न खेद। वे तो सदा प्रसन्न हैं। उनके बड़े बड़े नेत्र कमलके समान खिले हुये हैं। मस्तकपर जटाजूट धारण कर रखा है। वह मुकुटकी ही भांति सरकार को सुशोभित करता है। इस सौंदर्य राशि को भला शृङ्गार की क्या आवश्यकता? वह तो सहज अभिराम है। देखते ही मन खिंच जाता है।

आगे आगे प्रभु हैं। पीछे श्री जानकी प्रभु के चरण चिह्नोंके मध्यमें चरण रखती जा रही हैं। सबसे पीछे श्री लक्ष्मणकुमार हैं। एक पंक्ति में तीन चरण चिह्न बनते हैं, पर श्री रामानुज का चरणचिह्न कभी प्रभुके श्रीचरण चिह्नके दाहिने बनता है और कभी बायें। मार्गमें चलते हुये इस त्रिरूप को हृदय में रख लीजिये। अब इस वेश में सरकार का भजन कीजिये। यह अंतिम मांकी है। बन में फिर तीनों एकत्र न मिलेंगे।

श्रीसीता-लक्ष्मण संयुत पथिगत अभिराम श्रीराम का भजन कीजिये। यह मूर्ति भजनके ही योग्य है। यदि आप इसका भजन नहीं करते हैं तो भटक जायँगे भवमें। आपको भी भव-पथमें बहुत यात्रा करनी है। आगे सरकार अद्भुत मानवलीला करने वाले हैं। उनका यह पथिकरूप मनमें रहे तो उस लीलामें आपको मोह नहीं होगा।

कितनी सुन्दर सुलभ नयनाभिराम झाँकी है। सहज स्वरूप है। नील जलद तनपर पीताम्बर, धनुष-बाण और त्रौण तथा मस्तक पर जटामुकुट। नेत्र विशाल कमल के समान। मार्ग में जा रहे हैं, जो चाहे सो मिल ले। जिसे इच्छा हो, चरण बंदन कर ले। साथ जाना हो तो मना थोड़े कर देंगे। अयोध्या के राज-दरबार में ये सुभीते मिलने से रहे। बन में भी यह अंतिम झाँकी ही समझिये। श्री महारानी जी के न रहने पर यह आनन्द कहाँ ?

प्रभु पथ में हैं। वे स्वतः भव-पथ के पथिकों को लेने आये हैं। यह काम होगा भक्ति द्वारा। वह उनके पीछे चलने वाली उनकी अनुगामिनी योगमाया तो हैं। वे न रहें तो भजन होगा ही कैसे ? भक्ति के बिना भजन का मूल्य ? उनके प्रवर्तक वे पीछे जा रहे हैं। जीवों के परम गुरु वे श्री लक्ष्मणकुमार ही तो भक्ति के संरक्षक हैं। बन में प्रभु ने उन्हें ही सौंपा भी था महारानीजी की रक्षा का भार। सदा के रक्षक वही हैं।

सीता-लक्ष्मण संयुत—भक्ति पूर्वक जो कि श्रीगुरुदेव द्वारा प्राप्त है, उस अभिराम—सर्वत्र व्याप्त श्रीराम का भजन कीजिये। फिर तो वह 'हरि व्यापक सर्वत्र समान।' नवजलधर श्याम, पीताम्बर परिवेष्टित, धनुषबाण त्रौणधारी, जटाजूट बनाये, अपने कमलदलायत लोचनों से कृपावृष्टि करता साकार हो उठेगा। वह स्वयं चलकर पथमें ही आपको मिल जायगा।

यही तो वह सान्द्रानन्द पयोद सुन्दर तनु है, जिसे देखकर बहिन की नाक कान काटने पर भी खरदूषण मुग्ध हो गये ? सूर्पणखा विचारी तो मुग्ध हो ही गई थी । सुन्दर पीताम्बर शबरीके बेर भरने में काम आ गया । हाथ में प्रस्तुत धनुष बाण न होता तो विराध बध कैसे होता ?

कथाओं के लिये प्रकाश तो इस श्लोक में भी पर्याप्त है, पर मुझे ऐसा लगता है कि इस काण्डका पूरा प्रकाश इसके पूर्व के एक ही श्लोक से प्राप्त हो गया है । यह तो मांकी का वर्णन है । आगे सुलभता न होगी, इस अशंका से गोस्वामी जी स्थिर रूप से इस मांकी को हृदय में रख रहे हैं । उन्होंने इस श्लोक में नमस्कार न करके भजे कहा है । भजन तो चलता रहता है । वह एकान्तिक एवं नैष्ठिक होता है । उसका रूप रोज रोज बदलता नहीं । अतः यह रूप भजन के लिये स्थायी रूप से हृदय में रख लिया गया है ।

यहां एक विराम होता है । अब तक त्रिमूर्ति की मांकी चलती रही है । भजे, कहकर सूचित किया जा रहा है कि अब आगे वह चल न सकेगी । इस मांकीका तो भजन ही करना है । आगे अब दोनों भाइयों का व्यग्र या रोष भरा रूप आवेगा । वह सब नाटक होगा । वास्तविकता यहीं तक थी । भजनीय नाटक नहीं हुआ करता । वास्तविक रूप ही भजनीय होता है ।

पथिगत तो प्रभु हैं ही । अब आगे भी पथ ही पथ है । अयोध्या से चलने पर चित्रकूट में विश्राम हुआ था । पंचवटी या प्रवर्षण गिरिका विश्राम कोई विश्राम है ? अब तो अयोध्या पहुँचने तक पथ ही पथ है । कहीं रुकना भी है तो चलने के लिये । अतः पथ की इस सर्व-सुन्दर मांकी का भजन करना ही चाहिये ।

कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ,
 शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृन्दप्रियौ ।
 मायामानुषरुपिणौ रघुरौ सद्धर्मवमौ हितौ,
 सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः ॥

जो दोनों भाई कुन्दके पुष्प तथा इन्दीवर (नील कमल) के समान गौर-श्याम, अत्यन्त बलवान्, विज्ञान-भवन, शोभा-सिन्धु, श्रेष्ठ धनुर्धर, वेद वन्दित, गौ एवं ब्राह्मण समुदायको प्रिय, माया से मनुष्य रूप धारण किये, रघुकुलतिलक, सद्धर्म-रक्षक, सबके हितकारी तथा मार्ग में चलते हुये श्री महारानी जानकी जी के अन्वेषण में लगे हैं, वे निश्चय ही हमें भक्ति प्रदान करें ।

छोटे लक्ष्मण कुमार कुन्द पुष्प के समान गौर हैं और सरकार हैं इन्दीवर श्याम । दोनों भाई शोभा-सिन्धु हैं । इस सीतान्वेषण की विकलता में भी वे वे अत्यन्त सुन्दर लगते हैं । यह मोह नहीं है । अन्वेषण का नाटक है ।

‘राम सच्चिदानन्द दिनेसा ।

नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥’

उन्हें क्या पता नहीं है कि महारानी जी कहां हैं ? ऐसा नहीं हो सकता । किसी प्रकार के भी अज्ञान की कल्पना वहां शक्य नहीं । वे दोनों भाई विज्ञान के धाम हैं । उन्हें सब कुछ पता है । लेकिन जो स्वांग लिया है, उसे पूरा भी तो करना है ।

‘सोभा सिन्धु सुभग दोउ बीरा ।

‘नील-पीत जलजाम सरीरा ॥’

उन शोभा-सिन्धु बन्धुओं की शोभा का पूछना ही क्या ? बड़े श्रेष्ठ धनुर्धर हैं । रावण जैसे विश्व-विजयी का साहस नहीं हुआ कि उन दोनों भाइयों में से एक के रहते भी श्री जानकी जी को ले जावे । एक ही वाण से सम-ताल-बेध तथा बालि-वध श्रेष्ठ धनुर्धर होने का प्रमाण है । छोटे कुमार के धनुष चढ़ाते ही सुग्रीव के साथ सारी किष्किन्धा कांप उठी थी ।

दोनों भाई वेद-वन्दित हैं । श्रुतियाँ उन्हीं की स्तुति करती हैं । ऐसी स्थिति में शंका होगी—जब दोनों भाई शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त बलवान हैं, विज्ञानधाम होने के कारण श्री वैदेहीजी का पता भी जानते हैं, और श्रेष्ठ धनुर्धर भी हैं तो ले क्यों नहीं आते उन्हें ? श्रुति-वन्दितों को क्या आड़ से बालि का वध करना चाहिये था ?

वे गौ एवं ब्राह्मण समूह को प्रिय हैं और गौ-ब्राह्मण उन्हें प्रिय हैं । अतः प्रश्न केवल श्री जानकी जी को लाने का नहीं है । गौ एवं ब्राह्मणों को संताप देने वाले राज्ञसों को दंड देकर ठीक करने का है । असुर विनाशार्थ यह सब भूमिका रची जा रही है । बालिको भी एक विप्रका ही वरदान था कि तुम्हें कोई सामने से नहीं मार सकेगा । अपने परम प्रिय विप्रों के वचन की रक्षा करना था और साथ ही गोरूपिणी पृथ्वी के भार को दूर भी करना था । मदान्ध बालि धरा-भार हो चुका था ।

दोनों भाई वस्तुतस्तु मनुष्य नहीं । माया से ही उन्होंने मनुष्यरूप धारण किया है । पंपासरोवर के किनारे देवर्षि नारद के आने पर यह बात स्पष्ट हो गई । श्री हनुमान जी ने भी उन्हें पहिचान लिया । वैसे वे अपने मुख से परिचय देते समय श्री हनुमान जी तथा सुग्रीव के सम्मुख भी रघुवंश कुमार ही बने रहे । इस समय तो रघुकुल भूषण ही हैं ।

‘जब जब होइ धरम कै हानी ।’

तभी आप ‘निज स्रुति-सेतु’ के रक्षार्थ अवतीर्ण होते हैं। सद्धर्म के लिये रक्षा कवच हैं। बालि का बध उसके अधर्म के कारण हुआ और सुग्रीव की रक्षा शरणागत की रक्षारूप धर्म था आवेश में मित्र का धर्म याद था। छोटे कुमार को रुष्ट होते देख आपने झट स्मरण करा दिया कि मित्र पर रोष नहीं करना है। मित्र धर्म का तो वर्णन ही किया है आपने।

‘सुहृदं सर्व भूतानां’ सबके हितकारी हैं दोनों भाई। ‘सबके प्रिय, सबके हितकारी’ तो आपके सेवक हो जाते हैं। आप यदि सबके हितकारी हो गये तो क्या बड़ी बात हुई। लेकिन कैसे हितकारी हैं, वह उन्होंने स्वयं देवर्षिको बताया है।

‘कुपथ मांग रुज व्याकुल रोगी।

बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी ॥’

इस समय सीतान्वेषण में तत्पर हैं। सीतान्वेषण ही तो है इस कांड भर में। यह बन्दना किष्किन्धा काण्ड की है। सुग्रीव-मित्रता, बालि-बध, सुग्रीव को भय देना, कपियों को इधर-उधर भेजना, सभी सीतान्वेषण है। उसी अन्वेषणार्थ सब कुछ किया गया है।

दोनों भाई मार्ग में हैं। प्रवर्षण पर चार महीना निवास तो वर्षा के कारण है। मर्यादानुसार पथिक को जहाँ भी चतुर्मासा हो, रुक जाना चाहिये। उसी नियम से यह चातुर्मास्य है। वैसे तो अभी अन्वेषण के पथ में ही हैं दोनों भाई। बिना उद्देश्य पूर्ति के पथ की समाप्ति कहाँ ?

निश्चय ही वे हमें भक्ति देंगे ! इस कांड में उन्होंने देवर्षि नारद से प्रारम्भ करके सबको भक्ति ही तो दिया है। जो सामने आया, उसी से आपने कहा ‘बरं ग्रूहि’ मांगने वाले भला छोटी

मोटी वस्तु क्यों मांगने लगे उन्होंने तो सीधे वही चिन्तामणि मांगा । 'एवमस्तु !' दरबार खुला है । जब सभी को इस प्रकार आज खुला वितरण हो रहा है तो हमारे लिये ही क्यों कंजूसी होगी और फिर हमीं ऐसी वैसी चीज क्यों मांगेंगे ? आज महादानो एक ओर से बांट रहे हैं । अतः निश्चय है कि आज वे हमें भक्ति दे देंगे ।

एक बात और भी है । काण्ड के आरम्भ में ही उन्होंने देवर्षिको अपने दान का सिद्धान्त समझा दिया है । वे मांगने पर भी रोगी को कुपथ देते नहीं । अतः यदि हम कोई ऐसी वैसी वस्तु मांगें भी तो वह मिलेगी नहीं । वे तो आज भक्ति ही देंगे । 'कुपथ' देना उनसे हो ही नहीं सकता ।

काण्ड की सम्पूर्ण कथा इस एक ही आलोक-रश्मि में प्रकाशित हो उठी है । जो कुछ भी आगे कहना या सिद्धान्त करना है, सब इस सूत्र में निहित है । इसी प्रकाशका प्रस्तार है आगे का वर्णन ।

एक छोटी सी प्रार्थना भी है इसमें । गोस्वामी जी कह रहे हैं—प्रभु आप गौर-श्याम बड़े सुन्दर लगते हैं । आपका विज्ञान-धाम ज्ञानगम्य स्वरूप भी है, पर मुझे तो यह शोभा-सिन्धु धनुषधारी स्वरूप ही प्रिय है । आप वेदवन्दित व्यापक, निर्गुण हैं सही, पर गोविप्र वृन्द के प्रियार्थ मायामानुष होकर जो रघुवंश भूषण हो गये हैं, धर्मरत्नार्थ धारित यह रूप ही मुझे हितकर प्रतीत हो रहा है । आप महारानी जी को दृढ़ते हुये पथिक बने हैं और मैं इस भव में कष से पथिक बना हूँ, आपकी भक्ति के लिये । अवश्य ही वह भक्ति हमें दे दीजिये ।

ब्रह्माम्भोधि समुद्रं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं,
 श्रीमच्छम्भुमुखेन्दु सुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा ।
 संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं,
 धन्यास्ते कृतिनः पिवन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ॥

वे पुण्यात्मा धन्य हैं जो ब्रह्मरूपी सागर से निकले, कलि-मल के विध्वंसक, अव्यय, श्री भगवान शंकर के चन्द्र मुख में सर्वदा विराजमान, संसार व्याधि की औषधि स्वरूप, सुखकारी तथा श्री जानकी जी के जीवनभूत श्रीरामनामामृत निरन्तर पान करते रहते हैं ।

श्रीरामनाम अमृत है । अमृतकी भांति ही समुद्र से निकला है । व्यापक निर्गुण ब्रह्म ही उसका समुद्र है । तभी तो निर्गुण मतवादी बहुत से कबीर जैसे संत रामनाम का जप करते हैं । साधारण अमृत कल्पान्त स्थायी क्षीरोदधि से निकला, अतः उसके पानकर्ता देवता कल्पांत तक ही अमर रहते हैं । पर यह अमृत तो शाश्वत ब्रह्म से निकला है । इसका प्रभाव भी शाश्वत रहने वाला है ।

उस अमृत ने तो समुद्र के मलको एक बार ही नाश किया था, पर यह अमृत कलिमलका प्रध्वंसी—मूलतः विनाशक है और साथ ही अव्यय है । खर्च करते जाइये, भण्डार भरा । घटना जानता ही नहीं । ऐसा नहीं कि देवताओं के समान चिंता और रक्षा करनी पड़े कि कोई पीकर समाप्त न करदे ।

उस अमृत का निवास है चन्द्रमा में । चन्द्रमा घटता बढ़ता रहता है और अमवास्याको क्षीण भी हो जाता है । वह कलङ्कित

है और राहु उसे ग्रस भी लेता है। यह श्री रामनामामृत भगवान् शङ्कर के चन्द्रमुख में रहता है। उस निष्कलंक, नित्यपूर्ण, निर्विकारी धाममें, जहां देखने का साहस भी दुष्टजन नहीं कर सकते। घटने बढ़ने की बात नहीं, वहां वह सर्वदा ही सुशोभित होता रहता है।

मृत्यु की ही यह औषधि नहीं। अमृत पीकर मृत्यु जीतने वाले तो प्रलय के पश्चात् फिर जन्म मरणके चक्रमें पड़ जाते हैं। यह संसार व्याधि की औषधि है। इससे भवरोग जड़ से चला जाता है। आवागमन छूट जाता है। साथ ही आनन्द स्वरूप हो जाता है। यह अक्षय सुखकारी है। भला स्थूल अमृत में यह गुण कहां? उसे पीकर भी ईर्ष्या द्वेष, असुरोंका भय आदि दुख तो लगे ही रहते हैं।

माता जानकी का यही जीवन है। इसी के बल पर तो वे लंका में जीवित हैं। 'नाम पाहरू दिवस निसि' उस अमृत स्वरूप अहर्निशि जागरूक पहरेदार ने ही तो उनके प्राणों को रोक रखा है। अन्यथा क्या इस वियोग में वे जीवित रहना चाहती हैं?

अमृत एक बार पिया जाता है। पुण्यका फल स्वर्ग मिला और वहां अमृत पीने को मिल गया, पर श्रीरामनामामृत तो सतत पान करने की वस्तु है। उसे साधारण पुण्यात्मा पान नहीं कर सकते। वह देवताओंको भी दुर्लभ है। 'मनुष्याणां सहस्रेषु' उसका पान तो कोई अत्यन्त धन्यभागी पुण्यात्मा ही करते हैं।

किष्किन्धा के पूर्वार्ध की कथा तो पहिले श्लोकमें आ गई। इसमें तो उत्तरार्द्ध की बात है। बानर यूथ माता जानकी का पता लगाने जा चुका है। उसके साथ साक्षात् श्रीराम न सही, उनका नाम तो है ही। क्योंकि वह तो व्यापक ब्रह्म से निर्गत अथ च व्यापक है।

अन्वेषण में न तो किसी को थकावट आती और न नींद क्योंकि ये तमोगुण स्वरूप कलिके धर्म हैं। रामनाम कलिमल नाशक है। उनकी शक्तियों का व्यय कभी नहीं होता। अव्यय अमृत का उन्होंने जो सहारा लिया है भगवान शंकर उनके रत्नक हैं। क्योंकि वह अमृत उनके सुन्दर वर चन्द्रमुख में रहता है। उन्हीं की कृपा से प्राप्त होता है।

रोग, शोक तथा जीव-जन्तुओं की पीड़ा भला जङ्गल पहाड़ भटकने में कैसे हो सकती है। सब प्रसन्न हैं, आनंदित हैं। उनके समीप संसार व्याधिकी ही नाशक सुधा है तो छोटी व्याधियों की क्या चर्चा। वह सुधा बड़ी आनन्ददायिनी है। ऐसा न होता तो वे अन्वेषण कार्य कर सकते? कहीं तृण मूल जल मिलते हैं और कहीं वह भी नहीं, पर वे हैं प्रसन्न।

महारानी जी अवश्य मिलेंगी और जीवित मिलेंगी। सारी खोजका यही आधार है। यदि इस पर पक्का विश्वास न हो तो खोज ही ठप हो जाय। उत्साह ही मारा जाय। पर विश्वास का कारण है। श्री जानकी जी का जीवन श्रीरामनामामृत है और उसे उनसे कोई छीन सकता नहीं। अतः उनके जीवन में संदेह क्या।

निरंतर श्रीरामनामामृत पान करते हुये श्री विदेहजा को जंगल, पर्वत एवं कन्दराओं में दूँढते फिरने वाले कपि कुञ्जर धन्य हैं। वे बड़े ही भाग्यशाली हैं। महान् पुण्योदय हुआ है उनका। नहीं तो भला बानर होकर रामकाज और रामानुराग कहां सामंजस्य रखता है।

पहिले श्लोकमें 'सीतान्वेषण तत्परौ' कहकर दोनों भाइयों की स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है। वहाँ लंका में महारानी जी की भी स्थिति के संबंध में कुछ कहना चाहिये। 'श्री जानकी जीवनम' वही कह रहा है।

आज उनके परम प्रिय उनके समीप प्रगट रूपसे नहीं, पर वे पति गत प्राण पतिसे पृथक् जीवन-धारण कर सकते हैं ? 'राम ब्रह्म व्यापक' और उसी ब्रह्ममें उद्भूत उसके स्वरूप ही श्रीरामनाम, यही उनके जीवन हैं। इसी सान्निध्य के कारण वे जीवित हैं। इस कलिमल नाशक ने उनकी क्षुधापिपासा और निद्रा को हरण कर लिया है। इतने पर भी वे रहेंगी, वैसी ही रहेंगी। नामामृत अव्यय जो है।

काल या रावण ही क्या कर लेगा ? उन्होंने दोनों के अधीश्वर के शुन्दरवर श्री मुख में सर्वदा संशोभित का आश्रय लिया है। उन्हें डरा धमका कोई भलेले, पीड़ा नहीं दे सकता, क्योंकि सभी पीड़ाओं से वे परे हैं। उन्होंने भव भेषज का आश्रय लिया है। अपना जीवन वहाँ स्थापित कर रखा है।

भगवान शंकर का प्रसाद है वह रामनामामृत। उसके मुख से निकला है। माता जानकीका जीवन—अनुग्रह सब है उसमें। उसका सतत पान बिना पुण्य के होता नहीं। श्रीमहारानी जी, कपिवर्ग सभी उसी की पान कर रहे हैं। इस काण्ड से नाम भहिमा का चमत्कार है। गोस्वामीजी उसीके पीने में लगने का संकेत कर रहे हैं।



‘शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं गीर्वाण शान्तिप्रदं,
 ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम् ।
 रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं,
 वन्देहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम् ॥’

शान्त, शाश्वत, अतुलनीय, निष्पाप, देवताओं को शान्ति देने वाले, ब्रह्मा-शंकर और शेष द्वारा निरन्तर सेवित, वेदांत बोध्य, सर्वव्यापक, जगदीश्वर, देवताओं के परमगुरु, श्रीराम-नाम से इच्छापूर्वक मनुष्यरूप धारण किये उन श्रीहरि की जो करुणामय आज राजराजेश्वर रघुवंश भूषण रूप धरे हुये हैं, हम बन्दना करते हैं ।

मूलतः भगवद्रूप शांत है । क्योंकि अशांति तो अप्राप्ति में होती है । उस पूर्णकाम में अप्राप्ति कोई वस्तु नहीं । वह शाश्वत तत्त्व है । कभी नाश नहीं होता । उस अनादि अनंत की कोई माप नहीं । वह देवताओं को शांति देने वाला है, पर है निष्पाप ।

ब्रह्मा-शंकर-शेष उसी की सेवा करते हैं । निरंतर सेवा करते हैं । ब्रह्मा तो उसकी नाभि-कमल से निर्गत हैं और उसकी सृष्टि के कार्य को चलाते हैं । निरन्तर ही उसी की सेवा करते हैं । शङ्कर उसी के ध्यान में समाधि लगाये रहते हैं । शेषशय्या पर तो वह सोता ही है ।

इतने पर भी वह वेदांतवेद्य है । उसका मूल स्वरूप व्यापक है । वेदांत के द्वारा उसका बोध होता है । उसी जगदीश्वर सुर-गुरु श्रीहरि ने श्रीराम नाम से माया से मनुष्य रूप धारण कर लिया है । क्योंकि जगदीश्वर और सुरगुरु होने के कारण

असुरों द्वारा जगत का उत्पीड़न तथा देवताओं की व्यथा वह सह नहीं सका था ।

वह दयामय है । उसके दमन में भी दया है । दमन तो वह करेगा ही, क्योंकि वह श्रेष्ठ रघुवंशी है । भूपालचक्र चूड़ामणि है । दुष्ट राजाओं का दमन करने के लिये ही तो उसने यह वेष स्वीकार किया है ।

प्रभु का स्वरूप ही शान्त है । सुन्दरकाण्ड का मंगलाचरण है यह । रावण की दुष्टता, समुद्र का हठ, विभीषण का आगमन कहीं भी रोष नहीं । रावण को भी समझाने का प्रयास, उसके भी बचाव का प्रयत्न, यह सब शांत स्वरूप की मांकी है ।

शाश्वत हैं वे । उनके रूपमें कभी कहीं विकार आता ही नहीं । यह जानकी वियोग का तो नाटक है । वस्तुतः तो श्रीमहारानी जी उस शाश्वत स्वरूप से अभिन्न हैं । उनका प्रभुसे त्रिकाल में भी वियोग होता नहीं । उस स्वरूप में कभी कोई गड़बड़ी नहीं होती ।

‘जग महुँ सखा निसाचर जेते ।

लळिमन हनहिं निमिष महुँ तेते ॥’

आपके बाण उठाते ही ‘उठी उदधि उर अंतर ज्वाला ।’ उस बल की थाह कोई कहां पा सकता है ? अनुमान से भी परे है वह शक्ति ।

जिसके स्मरण से ही पाप-जन्मजन्मान्तर के पाप नष्ट हो जाते हैं, उन्हें अनघ कहना कैसा ? लेकिन आप गीर्वाण-शांति-प्रद हैं, देवताओं को शान्ति देने वाले हैं । यह शांतिदान अपक्षपात पूर्ण, अथच पाप नहीं है । पापिष्ठों का आप दमन करके देवताओं को शांति देते हैं । बिना अपराध उन्होंने लङ्का पर चढ़ाई की नहीं है । रावण को पर्याप्त चेतावनी दी जा चुकी है ।

अतः उसे दण्ड देने में अब कोई दोष रह नहीं गया है। यों भी यह देवताओं की अभिवृद्धि का काल है। अतः इस काल में देवताओं की अभिवृद्धि की प्रत्येक बाधा को काल मर्यादा के व्यवस्थापक को मिटाना ही चाहिये।

रावण को ब्रह्मा तथा शंकर जी से वरदान मिला है। 'मैं ब्रह्मा मिलि तेहि वर दीन्हा।' यह वरदान उसकी रक्षा कर नहीं सकेगा। वे दोनों ही प्रभु के सेवक हैं और यदि वे भक्त-पक्ष कर भी जावें तो तीसरे शेष जी बचे रहेंगे। वे शेष जिनकी फूटकार से प्रलयकाल में ब्रह्मलोक भी भस्म हो जाता है। रावण पर तो ब्रह्मा और शंकर एक बार प्रसन्न हुये थे; पर सरकार के चरणों की तो वे शेष के साथ सदा सेवा करते रहते हैं।

वे वेदान्त वेद्य हैं। उनका स्वरूप साधारण बुद्धि में आता नहीं। अतः यदि जड़ समुद्र उन्हें पहिचान न सका तो कोई आश्चर्य नहीं। 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई' के अनुसार विभीषण, मन्दोदरी प्रभृति बहुत थोड़े भक्त उन्हें जान सके थे। असुर बेचारे भला क्या जानते उन्हें।

उन विभु के प्रताप से यदि पानी पर पत्थर तैर गये तो क्या बड़ी बात हुई। पत्थर और जल दोनों में तो वही व्यापक हैं। व्यापक न होते तो हनुमान जी के मुख से श्रीमहारानी जी को आप स्वयं सन्देश कहाने लगते ? विभु न होते तो श्री आंजनेय हृदय में कैसे रख लेते ?

वे श्रीराम कहलाने वाले प्रभु जगदीश्वर हैं। समुद्र पर शासन करना दूसरे का काम नहीं था। जड़-चेतन के गुण-धर्म का निर्माण उन्होंने ही किया है। अतः उसमें उलट-फेर करना उन्हीं की शक्ति है। उनकी आज्ञा सबके सिर-माथे पर। समुद्र ने पहिले यह बात समझी नहीं। लेकिन उर-अन्तर में ज्वाला उठते ही होश ठिकाने आ गया।

देवताओं के वे परमगुरु हैं। उनकी प्रीति का सम्पादन सभी को अभीष्ट रहता है। श्री हनुमान जी को अनल ने तनिक भी संतप्त नहीं किया। श्रीराम-भक्त के नाते अग्निदेव ने विभीषण का घर भी छोड़ दिया। सुबेल पर काल ने भी रामदूत से छेड़-छाड़ नहीं की। सभी देवता रावण से त्रस्त हैं और कुछ उसके बन्दीगृह में भी हैं। देवताओं के परमगुरु उन्हें अभय देने और मुक्त करने पधारने वाले ही ठहरे।

वे श्रीहरि कृपा से मनुष्य रूपधारी हुये हैं। अतः मनुष्यों के आदर्शानुरूप उनका शिव-स्थापन आदर्श ही है। सेतु बंध जाने पर वहां देव-पूजा होनी ही चाहिये थी। मर्यादा-पुरुषोत्तम ने उसी मर्यादा की रक्षा की। उन श्रीहरि का भगवान शंकर के समान कोई दूसरा प्रिय भी तो नहीं। अतः वहां शंभु-स्थापन ही हुई।

वे तो दयामय हैं। 'सम्मुख होइ जीव मोहि जबहीं।' में उनकी करुणा छलकी पड़ती है। रघुवंशी भला कभी शरणागत की रक्षा से मुख मोड़ते हैं? फिर प्रभु तो रघुवर हैं, वे सुग्रीव की सलाह ठीक होने पर भी नीति की प्रधानता देकर शरणागत त्राण-धर्म को क्यों छोड़ने लगे। उन भूपालचक्र चूड़ामणि ने एक शरणागत को लंका का राज्य दे दिया तो क्या बड़ा काम हो गया। सम्राट का काम ही है अयोग्य मांडलीक को उतारकर वहां उचित स्वत्वाधिकारी को अभिषिक्त करना। रावण बालि से हार चुका था और शेष सबको जीत चुका था। बालि-वध करके प्रभु स्वतः सिद्ध सर्वजयी सम्राट हो गये।

समुद्र पर पुल बंध गया। विभीषण का अभिषेक हो ही चुका था। शंभु पूजन करके खड़े सरकार की इतनी स्तुति करते हुये बन्दना कुछ अर्थ रखती है। वह अर्थ आगे स्पष्ट हो रहेगा।

“नान्यास्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये,
 सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
 भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे,
 कामादि दोषरहितं कुरु मानसं च ॥”

हे रघुपति, मेरे हृदयमें और कोई भी इच्छा नहीं है, यह सच सच कह रहा हूँ और (यदि इसमें संदेह हो तो) आप सबकी अन्तरात्मा ही हैं। (आपसे कुछ छिपा तो है नहीं) अतः हे रघुपुंगव, मुझे अपनी निर्भर—अनन्य भक्ति प्रदान करें तथा मेरे मनको कामादि दोषों से रहित कर दें !

यों तो विश्व में बहुत कुछ स्पृहणीय है। यह अपनी अपनी रुचि तथा भावना पर निर्भर करता है। लेकिन अब तो सभी जागतिक स्पृहायें शान्त हो चुकी हैं। कोई भी स्पृहा शेष रही नहीं है। सभी का तथ्य ज्ञात हो गया है। उनका खोखलापन प्रगट हो गया है।

यह मेरी बुद्धिका निश्चय नहीं—हृदय की धारणा है। बुद्धि के द्वारा किसी वस्तु को उचित-अनुचित, उपयोगी-अनुपयोगी ठहरा लेना एक बात है और उसे जीवन में परिणित करना दूसरी बात। संसार का मिथ्यात्व एवं विषयों की दुःखरूपता बुद्धिगम्यतो होजाती है, पर हृदय कहां मानता है। वहां तो वही इच्छायें बनी रहती हैं। गोस्वामी जी कह रहे हैं कि मेरे हृदय ने सब मान लिया है। ‘उरते सकल वासना भागी।’ अब हृदय ही कुछ नहीं चाहता।

यह वागाढम्बर नहीं है। सच सच कह रहा हूँ। आप निखिलान्तरात्मा हैं। सबके हृदय में ही रहते हैं। अतः आप

से कुछ छिपाया तो जा नहीं सकता । 'सबके उर अन्तर बसहु, जानहु भाव कुभाव ।' तो आप स्वतः देख लें कि मैं सच कह रहा हूँ या नहीं ।

मुझे भक्ति चाहिये ! निर्भरा भक्ति-अनन्य भक्ति दीजिये । किसी व्यापक ब्रह्म की भक्ति नहीं मांगता । किसी चतुर्भुज अष्ट भुज या द्विव्यधामवासी को भक्ति भी नहीं मुझे भक्ति तो रघु-पुंगव की चाहिये । रघुवंश में अवतार लिये उसी दशरथ कुमार की । श्री कौशल्या-नन्दन की भक्ति ।

केवल भक्ति ही नहीं । मेरे मानस को कामादि दोषों से रहित भी कर दो ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मानादि मेरे मानस में कभी आने न पावें । उस मानस में तुम्हारी भक्ति रहेगी न ? जहाँ भक्ति रहेगी, वहाँ तुम भी रहोगे ही । यह कूड़ा मेरे हटाने की शक्ति से बाहर है । तुम इसी कूड़े में रहोगे ? छिः ! इस कामादि के कूड़े को स्वच्छ करके तब विराजो वहाँ ।

पहिले तो कह आये कि हृदय में कोई स्पृहा ही नहीं और अब कहते हैं कि कामादि को हटा दो ! स्पृहा-कामना-काम क्या एक ही नहीं है ? यदि स्पृहा ही नहीं तो कामादि कैसे ? हटाना किसका ? और यदि कामादि हैं तो स्पृहा नहीं यह क्योंकर ?

स्पृहा तो नहीं है । कामादि भी नहीं हैं । लेकिन 'सिव विरंचि कहँ व्यापै को है बपुरा आन ।' उस मायासे डर लगता है । पता नहीं कब लीलाधर मुस्करा पड़ें और हृदय में तूफान खड़ा हो जाय । भक्तों के हृदय में साधारण कामादि विकार तो होते नहीं । उसी दृष्टि से (स्पृहा नहीं), कहा गया, लेकिन कभी कभी कारण वशात् नारद मोहकी भांति भगवान की दिव्य योगमाया मानस में कल्पित विकारों का उद्भव कर देती है अतः मानस को कामादि दोषों से रहित करें की प्रार्थना प्रकारान्तर

से 'अब जनि कबहूँ व्यापै प्रभु मोहि माया तोरि' की प्रार्थना है। कहा जा रहा है कि कभी चाल न चलना देवता !

मांगना है भक्ति। वह अनधिकारी को प्राप्त होती नहीं। 'जहां काम तहां राम नहिं।' अतः पहिले अपने को अधिकारी बताया गया है। भक्ति का अधिकार मनुष्य को तभी प्राप्त होता है, जब उसके हृदय से लौकिक एवं पारलौकिक समस्त भोगों के प्रति वैराग्य होजाय। यह वैराग्य केवल बौद्धिक न हो। बुद्धि मान भर न ले। हृदय उसे स्वीकार करले ! भोगों से घृणा हो जाय। वे काटने दौड़ें। गोस्वामीजी वही अधिकार बतला रहे हैं। मेरे हृदय में कोई भी इहलौकिक या पारलौकिक कामना रह नहीं गई है।

वैराग्य की बातें करना सहज है। मन में कुछ और भरे वैराग्य बधारनेलाले बहुत मिलते हैं। वैराग्य की बात सोचना उसके अनुसार चेष्टा करना उससे कठिन है। किन्तु हृदय से वैराग्य होना और भी कठिन है। मुख से नहीं, हृदय से स्पृहा चली गई है, यह सब सच सच कह रहा हूँ। यह विश्वास दिलाया गया है।

बहुधा हमारा मन हमें ही धोखा देता है। कामनायें सुप्त-रूपसे पड़ी रहती हैं और किसी कारण विशेष से वैराग्य जाग पड़ता है। इसे श्मसान वैराग्य कहते हैं। यह अस्थिर होता है। थोड़े दिनों में कामनायें जाग उठती हैं और वैराग्य हवा हो जाता है। गोस्वामीजी कह रहे हैं—प्रभु, मेरा मन मुझे तो धोखा दे सकता है, पर आपको तो दे नहीं सकता। आप तो अन्तर की आत्मा हैं। हृदय के भी भीतर रहते हैं। अतः आप स्वतः देख लें कि मेरे मन में कहीं छिपी छिपाई कोई स्पृहा है या नहीं।

हृदय में पूरा वैराग्य है। मैं आपकी अनन्य भक्ति चाहता हूँ। हो सकता है कि प्रत्यक्ष स्पृहा न होने पर भी कामनाओं के बीच कहीं सुप्त पड़े हों। वे आपकी भक्ति के बिना पूर्णतः नष्ट होते भी तो नहीं। 'राम भजन विनु मिटहिं कि कामा।' अतः उन कामादि दोषों से आप ही मानस को शुद्ध कर दें।

प्रभु ने सेतुबन्ध पर रामेश्वर की स्थापना करके वहाँ भगवान् शंकर के पूजनादि का माहात्म्य बतलाया है। गोस्वामीजी की मांग है बड़े मौके की। वह कहते हैं—आपने पूजन किया, मूर्ति स्थापित की ब्राह्मणों को कुछ दक्षिणा न देंगे? आप रघुपति हैं, अतः आपको दक्षिणाहीन पूजन शोभित नहीं होता?

विभीषण की भाँति यहां 'उर कछु प्रथम वासना रही' वाली बात है नहीं। आपने अंतर्द्वारमी होने के कारण ही विभीषण का अन्तर देख लिया था। सिंधु का नीर मंगाकर उन्हें लंकेश बना दिया था। मेरा हृदय भी देख लीजिये! यहां तो एक ही स्पृहा है, एक ही इच्छा है, आपकी अनन्य भक्ति मिल जाय।

अपने साधु-ब्राह्मणों के कष्ट निवारण का व्रत तो रखा है? यह शंभु-स्थापना आपने साधु-द्वेषियों के वधार्थ की है? दक्षिणा सांग होनी चाहिये! अतः मेरे भी कुछ शत्रु हैं। ये शत्रु हृदय में ही डटे रहते हैं। इन कामादि शत्रुओं का भी लगे हाथ विनाश कर दीजिये! कार्य आपके वेश के अनुरूप ही होगा और ब्राह्मण के दक्षिणा की सांगता हो जायगी। मेरी इच्छा पूर्ण हो जायगी। अब इधर उधर करने से काम चलने का है नहीं! 'एवमस्तु' कहना ही पड़ेगा।

‘अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं,
 दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
 सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं,
 रघुपति वरदूतं वातजातं नमामि ॥’

अतुलनीय बल के धाम, सुमेरु पर्वत के समान विशाल एवं कान्तियुक्त शरीर वाले, दैत्य समूह रूपी बन को दावाग्नि समान, ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ, सम्पूर्ण गुणों के कोष, वानरों के स्वामी, श्रीराघवेन्द्र के श्रेष्ठदूत श्री पवनकुमार को नमस्कार ।

सुन्दरकाण्ड के चरित के प्रधान नायक तो हैं पवन कुमार । श्रीराघवेन्द्र तो अन्त में समुद्रतोर पर पहुँचते हैं । फिर भी मर्यादानुसार स्वामी का ही स्मरण प्रथम होना चाहिये था । कौशलेन्द्र के स्मरण के साथ उनसे सम्बन्धित स्मरण इस काण्ड का चरित भी प्रकाश में आगया । सारा चरित ही रिक्त रह जायगा यदि पवनात्मजका स्मरण न हो । अतः उन्हीं रघुपति वरदूत की प्रार्थना है ।

अतुलित बलधाम हैं वे । किष्किन्धा के अन्त में ही उन्होंने कहा था जाम्बवन्त से ‘कहो तो लंका को उखाड़ लाऊँ या समुद्र में डुबा दूँ ?’, उनके बल की तुलना में न रावण है और न कुम्भकर्ण । कोई भी उनका घूसा सह नहीं सकता । बलवान वह, जिसे शत्रु भी बलवान कहे । अहंकारी राक्षसेश्वर ने भी स्वीकार किया ‘है कपि एक महाबल सीला’ उनके बल का भला क्या पारावार । जिस पर्वत पर पैर रख कर कूदे थे वह ‘चलि गयउ पताल तुरन्ता ।’ सिंहिका लंकिनी आदि थीं किस गिनती में ?

अक्षयकुमार और राक्षस समूह तो चपेटों में साफ हो गये । ब्रह्मास्त्र की मर्यादा रखनी थी नहीं तो मेघनाद को भी छठी का दूध याद हो आया था ।

शरीर की बात न पूछिये । 'कनक भूधराकार शरीरा, माता जानकी की शंका के उत्तर में कपि ने जो निज देह प्रकट किया, वह तेजोमय आकाश तक फैला साक्षात् कंचनगिरि था । समुद्र कूदने के समय भी वही विशाल शरीर और लंकादाह के समय भी । सच्ची बात तो यह है वह स्वर्ण शैलाभ देह ही निज देह है । बाकी रूप तो कामरूप होने के कारण प्रयोजन विशेष से धारण किये गये हैं । वे वास्तविक हैं नहीं ।

राक्षसों के जंगल जैसे बड़े समूह को तो वे दावाग्नि ही हैं— दावाग्नि के समान नहीं । समान की चर्चा क्यों ? स्वतः उन्होंने ही तो लंका को घास फूस के समान फूंक दिया । 'उलटि पलटि लंका कपि जारी' कोई कोना छोड़ा भी तो विभीषण का घर । अग्नि स्वरूप हुये एक से दूसरे मकान पर उछल रहे थे वे । भला अग्नि को अग्नि क्या जलावे ? उन्हें ताप कैसा ?

ज्ञानियों में उनकी गणना सर्व प्रथम होती है । सुरसा आई थी उनकी बुद्धि की परीक्षा लेने । 'देखि बुद्धि बल निपुन कपि' माता जानकी का भी निश्चय यही रहा उनके सम्बन्ध में । लंका-प्रवेश, सीतान्वेषण, विभीषण-मिलन और अशोक पर छिप रहना, पूरी निपुण प्रतिभा सूचित करते हैं । श्री जानकी जी से कितने नपे तुले शब्द कहे गये हैं और रावण के साथ की बात चीत तो नीतिज्ञता की चरम सीमा है ।

वे कपि केशरी सकल गुण-निधान हैं । सभी सिद्धियां उनमें निवास करती हैं समुद्र लंघन, छोटा रूप बना लेना और नाग-पाश से निवृत्ति में बहुत से गुण प्रकाशित हो गये हैं । युद्ध-

कौशल उनका राजस ही जानते हैं। माता सीता से चिह्न मांगकर उन्होंने अग्रसोचिता दिखलाई। गुणों के निधान तो थे ही, उस पर जगज्जननी ने आशीर्वाद दे दिया 'गुणनिधि सुत होहू' उनके आशीर्वाद के पश्चात् फिर शेष क्या रह जाता है ?

वानरों के वे अधीश्वर हैं। वानरराज तो सुग्रीव हैं न ? यह प्रश्न आप कर तो सकते हैं, पर मैं एक प्रश्न पहिले पूछलूँ। द्वारिका के अधिपति उग्रसेन थे या श्रीकृष्ण ? राज सिंहासन पर तो उग्रसेन बैठते थे और वही यादव सम्राट भी कहे जाते थे, पर युद्ध में सहायता मांगने अर्जुन और दुर्योधन में से कोई भी उनके पास गया नहीं। दोनों सीधे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे। बस, इधर भी कुछ ऐसी ही बात है। सुग्रीव को राजा बनाया पवनकुमार ने, और उन्होंने ही लक्ष्मण के कोप से पूर्व ही उन्हें सावधान भी किया। सच पूछा जाय तो वानरों के अधीश्वर हनुमान जी ही हैं। मर्यादा की दृष्टि से वे भले सुग्रीव से आज्ञा मांगें या उनके सलाहकार बनें।

रघुपति के दूत तो सभी थे। सभी वानर रघुपति के दूत होकर ही सीतान्वेषण करने गये थे। लंका में अंगद भी एक बार रघुपति दूत बने। लेकिन श्रेष्ठ दूत तो वह जो स्वामी का बताया कार्य तो पूरा कर ही आवे, कुछ अधिक भी कर आवे। ऐसे श्रेष्ठ दूत श्री हनुमान जी ही हैं। उन्होंने श्री जानकी जी का पता लगाया, संदेश सुनाया, चिह्न लिया और साथ ही सिंहिका को मारकर चढ़ाई का मार्ग साफ कर दिया। राजसों का बल तौल लिया। रावण को समझाने के बहाने उसकी विद्या बुद्धि की थाह ले आये। सारे गढ़ को भस्म कर दिया और सभी मार्गों से परिचय प्राप्त कर लिया। इसे कहते हैं श्रेष्ठ दूत।

वे बात जात हैं। पिता-पुत्र से अभिन्न होता है। 'पवन तनय बल पवन समाना' और लंकादहन में पुत्र की सहायतार्थ ही तो 'चल्यो मरुत उनचास।' वायु की गति उनके पुत्र में आई है और पिता के समान ही वे महावीर निर्वाध गति हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म, गुप्त से गुप्त स्थानों तक उनका प्रवेश बेरोक हो जाता है। उन्होंने सीतान्वेषणार्थ रावण का पूरा अन्तःपुर देख डाला और किसी को उनके आने जाने का पता तक न लग सका।

इस प्रकार श्री पवनात्मज की स्तुति करते हुये उनके गुणों के सहारे उनका चरित मानस में अवतीर्ण हुआ है। सुन्दर-काण्ड का यह चरित प्रायः पूरा उन्हीं का है। कहीं उनका अतुलित बल प्रकट हो रहा है और कहीं स्वर्ण शैलाभ देह नेत्रों को चमत्कृत करता है। कहीं वे कृशानु बने दनुज बन को दग्ध कर रहे हैं और कहीं ज्ञानियों में अग्रगण्य बने उपदेश करते हैं। उनके नाना गुण प्रत्यक्ष हुये हैं इस काण्ड में वानरों का प्रधान नायकत्व एवं श्रीराम का सफल दूतत्व उन्होंने किया है।

उन श्री पवनात्मज को नमस्कार। यह नमस्कार भी रहस्य पूर्ण है। इस काण्ड का पाठ करके प्रणाम करने से वे प्रसन्न होते हैं। सभी अभीष्ट इनके पाठ से प्राप्त होते हैं-ऐसा सन्तों का मत है।



रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं,
योगीन्द्रज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम् ।
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवं,
वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम् ॥

श्री मदनारि शिवजी के परम सेव्य, भवभयहारी, काल-रूपी मत्त गजराज के विनाशक केशरी, योगीन्द्रों के ध्यान में प्राप्त होने वाले, गुणसागर, अजित, निर्गुण, निर्विकार, माया से परे, देव-देवेश, दुष्ट-वध में लगे हुए, ब्राह्मण वृन्द के एकमात्र देवता, नवजलधरश्याम, कमलनयन, भूपरूपधारी भगवान श्रीराम की वन्दना करता हूँ ।

भगवान श्रीराम कामारि के सेव्य हैं । उनकी सेवा का परिणाम था कि भगवान शिव ने मदन को फूस की भांति भस्म कर दिया । लंकाकाण्ड की वन्दना के प्रथम श्लोक का प्रथम वाक्य ही सावधान करता है कि यह युद्ध काम प्रेरित अर्थात् सीता के लिये नहीं है । काम का नाश तो भगवान शिव ने कर दिया और राम उनके भी सेव्य हैं, अतः उनमें काम कहाँ ?

यदि यह युद्ध काम-प्रेरित नहीं तो मुनियों के कष्ट निवारणार्थ होगा ? अरे नहीं, अपने जनों का तो भव-भय इच्छा मात्र से दूर कर देते हैं । यह चढ़ाई भव-भय हरणार्थ है । यह रावण उनका निज-जन है। उस जन्म का । उसी की संसृति-हरणार्थ यह आयोजन हुआ है ।

व्यर्थ की बात है । 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम् ।' उन्हें क्रीड़ा करना है । नहीं इन असुरों की कोई गिनती में गिनती है ?

सम्पूर्ण संसार को निगल जाने वाले महामत्त गजराज के समान महाकाल को भी वे सिंह सदृश नष्ट कर देते हैं ।

जाके डर अति काल डेराई ।

जो सुर असुर चराचर खाई ॥

वे भला असुरों के विनाशार्थ उद्योग करने वाले थे ? ब्रह्मा के वरदान की रक्षा करनी है और क्रीड़ा भी करनी है ।

इन असुरों के भाग्य तो देखिये । वे योगीन्द्रों को भी साक्षात् नहीं प्राप्त होते । योगीन्द्र भी ध्यान में यदा कदा उनका दर्शन पाते हैं और वही इन राक्षसों के सम्मुख उपस्थित हो गये हैं । उनके बाणों से या उनके जनों के द्वारा उनका दर्शन करते करते शरीर छोड़ेंगे ।

वे गुणनिधि हैं । 'एक ही बान' में 'छत्र मुकुट ताटक सब' काट देना या कुम्भकर्ण, रावणादि का वध, युद्ध-कौशल सब छोटी बातें हैं । वे अजित हैं । उन्हें कोई भी जीत नहीं सकता । उन सर्वेश, सर्वशक्तिमान को भला कौन जीत सकेगा । अतः लड़ाई के मध्य में उन्हें नागपाश-बद्ध या मूर्छित देखकर मोहित नहीं होना चाहिये । युद्ध का परिणाम सुनिश्चित है । श्रीराम अजेय हैं । आसुरी माया उन्हें आच्छादित नहीं कर सकती ।

वे निर्गुण हैं । उनमें मायिक गुण हो तो आसुरी माया उनका स्पर्श करे । नियम यह है कि परस्पर सर्वथा विरोधी पदार्थों का मिलन या सम्पर्क सम्भव नहीं । भला रजोगुण एवं तमोगुण से उत्पन्न आसुरी माया उन निर्गुण को कैसे स्पर्श करेगी ?

प्रभु निर्विकार हैं । क्रोध, मोह, शोक, क्षोभादि विकारों से सर्वथा रहित । असुरों की माया में सब के मोहित हो जाने

पर उनका एक ही तीर माया-हरण के लिये पर्याप्त होता है। उन सदा प्रसन्न मुख पर रोष की रेखा कभी कोई देख ही नहीं सकता। लक्ष्मण-मोह के समय का उनका विलाप शोकजन्य है नहीं। वह तो एक मानव-चरित दिखाने की क्रीड़ा है। यही दशा क्षोभ की है।

यह सब इसलिये कि वे मायातीत हैं। गुण और विकार माया में होते हैं। वे माया से परे हैं। माया के स्वामी हैं। 'माया प्रेरक सीव' हैं यह सब विश्व-क्रीड़ा उन्हीं की प्रेरणा से माया-द्वारा हो रही है। असुर जब उन माया पति से माया करना चाहते हैं तो उन्हें मुंह की खानी ही चाहिये।

उन निर्गुण निर्विकार मायातीत को अपनी योगमाया को आधार बनाकर यह क्रीड़ा इसलिये करनी पड़ी कि रावण को सुरश्रेष्ठ ब्रह्मा और शङ्कर जी ने वरदान दे दिया। उनके वरदान की रक्षा करनी है। वे सुरेश हैं। देवताओं के भी देवता। अतः देवश्रेष्ठों के वचन की मर्यादा की रक्षा उनके लिये समुचित ही है।

सुरश्रेष्ठों के वचन-मर्यादा-रक्षणार्थ वे स्वल-वध-निरत हुए हैं। वरदान पाकर वे असुर दुष्ट हो गये। उन्होंने विश्व का उत्पीड़न प्रारम्भ किया। विशेषतः गौ-ब्राह्मणों का। फिर वे ब्रह्म-वृन्दैकदेव इसे कैसे सह लेते ? उनका तो अवतार ही 'गो-ब्राह्मण हिताय' हुआ करता है। अतएव उन्होंने यह धनुष उठाया है और दुष्ट-वध में लगे हैं। प्रतिज्ञा कर रखी है 'निसिचर हीन करौं महि।' यह लंका की चढ़ाई नहीं है। वे तो कब से दुष्ट-दलन में लग चुके हैं।

उनका शरीर नवजलधर श्याम है और नेत्र कमल के समान हैं। अर्थात् वे स्वलवध में कहीं सातवें आसमान में बैठकर नहीं लगे हैं। सगुण साकार होकर धनुष उठाया है। एक बात और

अन्तिम । वे किसी दिव्य लोक से नहीं आये हैं । वे तो पृथ्वी-पति-नृपश्रेष्ठ का स्वरूप धारण किये श्री कौशलेन्द्र हैं । उन्हीं उर्वीशरूप नवजलद श्याम सरसिज नयन की बन्दना है यह ।

भगवान् शङ्कर तो इस युद्ध में अपने भक्त रावण की रक्षा करने से रहे, क्योंकि श्रीराम उनके सेव्य हैं । रावण ने काल को केवल बन्दी बनाया था और ये उसके विनाशक हैं । वह लोक रावण—संसार को रूताने—भय देने वाला और ये भव के भय को हरण करने वाले हैं । उस दुष्ट ने बड़ी कठिनता से ऋषियों का रक्तदान पाया है, ये उन योगीन्द्रों के हृदयासन पर अर्चित होते हैं । वह गुणी होगा, पर ये गुणनिधि हैं । वह बालि-सहस्र-बाहु आदि से हार चुका है और ये अजेय हैं ।

अब तक रावण बचा यों था कि प्रभु निर्गुण और निर्विकार हैं । ध्यान दिया नहीं । मायातीत होने से मायिक जगत की ओर दृष्टि न दी । लेकिन कब तक ? देवताओं ने प्रार्थना की और उन सुरेश को सुनना पड़ा । अतः आज तो वे दुष्ट वध में लग चुके हैं । वे ब्राह्मणों के परम देवता हैं, अतः ब्राह्मणों का कष्ट नहीं सहन कर सके हैं । 'रावण मरन मनुज कर जौंचा ।' सो प्रभु ने उस 'विधि बचन' को 'साँचा' करने के लिये नवजलद श्याम सरसीरुह लोचन, उर्वीशरूप धारण कर लिया है । उनकी यह बन्दना अग्रिम कथा का अच्छा प्रकाश है ।

“शंखेन्द्राभमतीव सुन्दरतनुं शार्दूलचर्माम्बरं,
 कालव्यालकरालभूषणधरं गंगा शशाङ्कप्रियम् ।
 काशीशं कलिकल्मषौघशमनं कल्याणकल्पद्रुमं,
 नौमीड्यं गिरजापतिं गुणनिधिं कन्दर्पहं शङ्करम् ॥

शंखोज्वल—चन्द्रगौर अत्यन्त सुन्दर शरीर वाले, श्रेष्ठ शार्दूल-चर्म पहिने कराल काल-सर्प का आभूषण धारण किये, प्रेम से श्री गङ्गाजी को मस्तक पर तथा चन्द्रमा को ललाट पर सजाये, काशीपति, कलि-कल्मष-समूह के विनाशक, कल्याण-कल्पवृक्ष, गिरजापति, गुणनिधि, कन्दर्पनाशक श्री भगवान शंकर को नमस्कार ।

भगवान शंकर शंख के समान उज्ज्वल हैं । वे सत्वगुण की साक्षात् मूर्ति हैं । उनके अत्यन्त सुन्दर शरीर की कान्ति चन्द्रमा के समान है । राक्षस-राज उनका भक्त होगा, पर वह तामसिक और लोकोत्पीडक हो गया है । विश्वनाथ की मूर्ति सत्वगुणमयी और अपने शीतल प्रकाश से विश्वको हर्षित करने वाली है । लोक को रूलाने वाले से उनका सामंजस्य कैसा ?

श्रेष्ठ शार्दूल का चर्म उन्होंने धारण कर रखा है । बलवान्तर हिंसक का चर्म पहिनकर वे प्रत्यक्ष बता रहे हैं कि कोई चाहे कितना भी बलवान हो, विश्व के लिये आतंक बनने पर वह मेरा वध्य हो जाता है ।

कराल काल सर्प उनके शरीर का आभूषण है । युद्ध की घोर विभीषिका और हिंसा से वे विवृण्ण नहीं होते और न उन्हें वह घृणास्पद ही लगता । वह तो प्रलयंकर हैं । कराल काल से क्रीड़ा

करना ही उनका काम है। असत् एवं दुष्ट को मिटा कर सत् एवं सुष्ठु के लिये वे पृष्ठ भूमि प्रस्तुत किया करते हैं। अतः यह लंका का युद्ध तो उनका विनोद ही करेगा।

संसार के सभी युद्धों से उस कैलाश के हिम-निवासी तपस्वी को कोई मतलब नहीं हुआ करता। वह तो अपनी समाधि में मग्न रहता है और प्रलय के समय तृतीय नेत्र खोलकर त्रिशूल एवं डमरू लिये उठता है। लेकिन इस युद्ध में वह तटस्थ न रह सकेगा। आरम्भ में सेतुबन्ध पर उसकी पूजा हो चुकी है। और युद्ध के नायक वे हैं जिनके चरणोदक होने के कारण गङ्गा जी को प्रेम से वह मस्तक पर रखता है। क्षीरसिंधु से प्रकट होने के कारण चन्द्रमा को जिन आराध्य का सम्बन्धी जान वह भाल पर धारण करता है। यह युद्ध उसके आराध्य का है। उस भूतनाथ को इसमें भूतों के साथ पधारना है।

वह शिव काशीपति हैं। उनकी काशीपुरी में मरने वाला कोई भी अधोगति प्राप्त नहीं करता। वे मृत्यु समय में कीट पतंग तक को तारक मंत्र कान में कहकर मुक्त कर देते हैं। जिनकी पुरी में मरने मात्र से निकृष्टतर प्राणी भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, उन्हीं के श्री चरणों में मस्तक उपहृत करने वाला रावण, उनके उपासक असुर नीचगति पावेंगे ? हो नहीं सकता।

बड़ा पापी है रावण। बड़े अधम हैं राक्षस। इसका उद्धार क्या सम्भव है ? खूब सम्भव है। जिनके वे उपासक हैं। वे कलि के समस्त पाप-समूह के विनाशक हैं। उनके स्मरणमात्र से जन्मजन्मांतर के पाप नष्ट हो जाते हैं। उन्हीं विश्वनाथ की कृपा का फल है कि इन अधम असुरों को प्रभु स्वयं 'निजधाम' देने पधारे हैं।

भगवान् शंकर कल्याण-कल्पद्रुम हैं। उनकी शरण जाने के पश्चात् अकल्याण नहीं होता। जो गति योगीन्द्रों को दुर्लभ

है, वह राक्षसों को मिली किसके प्रताप से ? एक बात अवश्य है, कल्पवृक्ष की भांति ही भोलेबाबा भी कल्याण का निश्चय स्वयं नहीं करते । जिसमें तुम्हें अपना कल्याण दीखे, मांग लो । जो मांगोगे-मिल जायगा । वैसे उनके शरणागत की अधोगति होती नहीं । किसी न किसी प्रकार उनका बेड़ापार हो ही जाता है ।

वे गिरिजापति हैं । शक्ति उनकी सहधर्मिणी है । बिना शक्ति के भला कल्याण कैसा । युद्ध में विजय चाहिये, अतः गोस्वामी जी विजया के साथ ही उन भोले आशुतोष का स्मरण कर रहे हैं । गिरिजापति हैं वे, स्थिरता के अधीश्वर । युद्ध में स्थैर्य ही तो अभीष्ट है । जहाँ जगदम्बिका अन्नपूर्णा हैं, वहाँ सब गुण स्वतः रहेंगे । गुणनिधि तो गिरिजापति होने वाले ही हैं । सभी गुण स्थैर्य के मुख्यापेक्षी हैं । स्थैर्य हो तो सभी गुण स्वयं आवेंगे ।

कंदर्प नाशक हैं भगवान शिव । मदन अपने को त्रिभुवनजयी लगाता था । तीसरा नेत्र खुलते ही वह भस्म हो गया । उसका त्रिभुवनजयी का गर्व ही उसे ले डूबा और आज वही गर्व लंकेश के सिर सवार है । वह भी अपने को त्रिभुवनजयी समझने लगा है । रावण ने गर्ववश कोशलनाथ को ढेड़ा है । उसके गर्व का भी वही फल होना है । विश्वनाथ एवं अवधनाथ दोनों गर्वहारी हैं । वे कोई भी यह गर्व सह न सकेंगे ।

उन ईश्वर, बन्दनीय भगवान शङ्कर को प्रणाम । वे विश्व-बन्ध हैं । शङ्कर हैं । कल्याण का सृजन, रक्षण एवं पालन ही उनका स्वरूप है । लङ्का आज विश्व के अकल्याण का हेतु हो रही है । विश्व कल्याणार्थ ही श्री कौशलैन्द्र ने उस पर यह चढ़ाई की है भगवान शङ्कर को उन्होंने पहिले ही नमस्कार कर लिया है ।

युद्ध की उस घोर राजसिकता में भी गोस्वामी जी ने क्या देखा है ? उन्हें वह पूरा युद्ध भगवान शङ्कर का साक्षात् स्वरूप ही दिखाई पड़ रहा है । वह वाणों की झड़ी, शोणित-प्रवाह एवं चीत्कार हैं सही, लेकिन उसकी पृष्ठ भूमि ? वड़ी ही उज्ज्वल-शङ्ख के समान उज्ज्वल तथा चन्द्रमा के समान स्निग्ध प्रकाश देने वाली है । जगत का वह आकुल हाहाकार शान्त हो जाता है ।

यह हिंसा, यह शवों की भीड़—अरे नहीं ! भगवान शिव भयंकर शार्दूल चर्म पहिने हैं न ? इन क्रूर पशुओं जैसे पिशाचों का शव ही तो उनका आवरण है और यह विनाश उनका भूषण । वे काल व्याल कराल भूषणधर हैं । यह काल की क्रीड़ा उनकी शोभा बढ़ाती है । इसमें है गंगा की पवित्रता और इन्दु की शीतल शान्ति । वे गंगा-शशांक प्रिय स्वयं पवित्र शान्ति ही चाहते हैं । इस अपवित्रता एवं अशान्ति का दमन किये बिना वह कैसे स्थिर रहेंगी ।

वे काशीपति, कलिकल्मषौघ शमन एवं कल्याण कल्पद्रुम इन अधमों का कल्मषौघ इस बहाने शान्त करके उनका कल्याण करते रहे हैं । वे गुणनिधि हैं, उनमें हिंसादि दुर्गुण शक्य नहीं । वे कन्दर्पनाशक हैं, उनमें काम-क्रोध नहीं रह सकते । इस युद्ध के रूप में तो गिरिजापति—शक्ति के स्वामी वे शङ्कर-कल्याण-मूर्ति ही क्रीड़ा कर रहे हैं वे परम बन्दनीय हैं ! उन्हें नमस्कार !

‘यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम् ।

खलानां दण्डकृद्योऽसौ शङ्करः शं तनोतु माम् ॥

जो भगवान् शिव सज्जनों को अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष भी प्रदान करते हैं तथा जो दुष्टों को दण्ड देने वाले हैं, वही भगवान् शङ्कर हमारा कल्याण करें ।

वे विश्वनाथ तो शम्भु हैं । कल्याण कर्ता हैं । किन्तु उनके कल्याण करने की परिपाटी दो हैं । सज्जनों को तो वे दुर्लभ कैवल्य भी बे देते हैं । आशुतोष ठहरे । मट से प्रसन्न हो जाते हैं । बेल के तीन पत्ते और आक-धतूर ही उन्हें तुष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं । दुष्टों का भी वे कल्याण करते हैं, क्योंकि वे हैं ही शङ्कर । किन्तु दुष्टों का कल्याण करते हैं दण्ड देकर । बिना दण्ड दिये उनका सुधार कैसे होगा ? आन्तरिक सुधार के बिना अशुद्ध चित्त में वैराग्य नहीं होता और वैराग्य के बिना ज्ञान नहीं ‘ऋते ज्ञानाग्न मुक्तिः ।’ अतः सज्जनों को, शुद्ध चित्त वालों को तो वे सीधे ज्ञान देकर मुक्त करते हैं और दुष्टों को दण्ड देकर शुद्ध करने के पश्चात् ।

रावण और दूसरे सभी राक्षस दुष्ट हो गये हैं । अतएव उन्हें दंड प्राप्त होगा और जब ‘मरती बार कपट सब त्यागा ।’ होकर वे सज्जन बनेंगे, उस अन्तिम क्षण में उन्हें दुर्लभ कैवल्य प्राप्त हो जायगा । इस प्रकार सबका कल्याण करने वाले वे कल्याण-स्वरूप हमारा भी कल्याण करें । युद्ध की नाना जटिल लीलाओं में वे हमें मोहग्रस्त होने से बचावें ।

षट्चक्र साधन-क्रम से आधिदैविक रूप में लंकाकांड आज्ञा-चक्र की साधना है । प्रत्येक कथा अपने ऐतिहासिक रूप में सत्य

होते हुये भी दैव जगत में तथा अन्तर जगत में सत्य होती है। वस्तुतः अध्यात्म के अनुसार ही अधिदैव बनता है और उसी का व्यक्तीकरण अधिभूत है। नित्य दिव्य लोक तथा व्यक्ति में अन्तर्व्यूह ही अध्यात्म है। उसकी शक्तियों का प्रकृति में या मानस जगत में प्राकट्य अधिदैव है तथा वही अधिदैव जब व्यक्त होता है तो उसे हम अधिभूत या इतिहास कहते हैं।

अधिदैव एवं अध्यात्म सूक्ष्म हैं, अतः उनकी उपलब्धि का प्रकार भावना भेद से भिन्न भिन्न हो सकता है। जैसे एक पक्षी के शब्द में एक व्यक्ति एक तथा दूसरा दूसरी ध्वनि कल्पित कर लेता है, वैसे ही अधिदैव की उपलब्धि भावना भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। वैसे इन सब भावनाओं में मौलिकता एक ही रहती है।

प्रकाश-पथ के प्रारम्भिक अध्याय में हम बता आये हैं कि किस प्रकार शरीर के योग द्वारा नियत चक्रों के अधिष्ठाता देवताओं से शक्ति प्राप्त होती है। उस प्रथमाध्याय में मूलाधार का संकेत है। बालकांड उसी प्रथम चक्र का चरित है। उसे आप कुण्डलिनी का जागरण कहें या प्रभु का अन्तर्जगत में प्रादुर्भाव।

प्रथम चक्र के अधिष्ठाता गरुडेशजी हैं और उस चक्र के भेदन से प्रतिभा की उपलब्धि होती है। 'बन्दे वाणी विनायकौ' में गोस्वामी जी ने वाणी के लिये विनायक को वहां जगाया है। इसे हम वहां पर्याप्त विस्तार दे चुके हैं। अब शेष पर दृष्टि डाल लें।

दूसरा चक्र है शक्ति चक्र। बड़ी कठिनाई होती है साधक को यहां। कभी तनिक सी आशा आ जाती है, कभी तनिक

शान्ति कलक दे जाती है, पर अधिक तो कष्ट ही मिलता है उसे । पीड़ा, शोक, पश्चाताप, विकारोद्य, सभी होता है यहां । वह समकृता है, मेरा पतन हो गया—पर नहीं, अन्त में उसे शान्ति मिल जाती है ।

गोस्वामी जी ने अयोध्याकांड के प्रारम्भ में ही अंकगत भूधर सुता शिव की वन्दना की है । उन्होंने गरल, व्यालराट् आदि के साथ बाल विधु प्रभृति से चक्र का स्वरूप प्रगट किया है । अयोध्याकांड में करुणरस का स्रोत है । यहां साधक को फूट फूटकर रोना ही है । सर्वव्यापक शशिनिभ-सत्त्वगुण की मूर्ति भगवान शिव से वे यहां रक्षा चाहते हैं । सत्त्वगुण में स्थिर रहने का दृढ़ प्रयत्न ही यहां सुस्थिर रख सकता है साधक को ।

तीसरा स्थल आता है नाभि चक्र । इसके अधिष्ठाता ब्रह्माजी हैं । यहां सिद्धि स्थान हैं । यहां सिद्धियों की उपलब्धि होती है । साधक के सामने मिथ्यादृश्य, मिथ्या प्रलोभन एवं मिथ्यादेश आते हैं । यदि वह सावधान न रहा तो फिर गया । आश और रूपों में यहां तथ्य कुछ नहीं होता । सिद्धि के फेर में पड़ने से शान्ति सदा के लिये नष्ट हो जायगी और अहङ्कार बलवान हो जायगा ।

यहां स्वः सम्भवं—ब्रह्मा जी के पुत्र रूप में भगवान शिवकी वन्दना है । सब कहीं शिव वन्दना इसलिये कि भगवान शिव गोस्वामी जी के गुण तो हैं ही इस कुण्डलिनी मार्ग के भी गुरु हैं । कनक मृग का भ्रम और उस असुर की लक्ष्मण के लिये श्रीराघवेन्द्र के स्वर में पुकार तथा सीता हरण इस कांड की कथा है । चोरी से ही रावण सीता-हरण करता है । अहङ्कार कभी अहङ्कर्ता पर प्रत्यक्ष होकर नहीं आता । यहां तो धैर्य रखना है । ब्रह्मकुल-साधकों का दोष दूर करने वाले भगवान शिव स्वतः

रक्षा करेंगे। किसी दृश्य या सन्देश पर ध्यान न देने की आज्ञा है। क्योंकि यहां 'कामरूप जानहिं सब माया।' बालों की भरमार है।

चौथा तो हृदय का आराध्य चक्र है। यहां तो दोनों भाई सीतान्वेषण में लगे प्राप्त हो जाते हैं। सुग्रीव-मित्रता हो जाना है यहां। साधक यहां बहुत कुछ आश्वस्त हो जाता है। वह स्थिर हो सकता है। उसकी विकसित शक्तियां स्वतः अपना कार्य करती हैं। उसे तो केवल आराध्य का ध्यान करना है। प्रभु यहां चतुर्मासा करेंगे और बानर जावेंगे सीतान्वेषण में।

आराध्य का स्मरण करते हुये ही गुरु के सम्मुख उपस्थित होना ठीक होता है। पाचवां कण्ठ चक्र शिव स्थान या गुरुचक्र है। आराध्य बन्दना के पश्चात् अन्त में गोस्वामी जी ने हनुमान जी की बन्दना की है। महावीर जी रुद्र ही तो हैं। सीतान्वेषण यहां हो जाता है और समुद्र किनारे तक पहुँचना भी। मार्ग का पूरा प्रकाश गुरुचक्र में गुरु मूर्ति से यहां मिल जाता है और साधक आज्ञाचक्र तक पहुँचने का मार्ग प्राप्त कर लेता है। उसे पता लग जाता है, आज्ञाचक्र विजित हुआ और शान्ति प्राप्त हुई।

(३) अब आइये छठे आज्ञा-चक्र में। यहीं रावण वध होगा, सीता प्राप्ति होगी। लेकिन साकेत यह नहीं, आगे है। यहां से ऊपर जाना है। यह अहंकार का स्थान है। यही त्रिपुटी-त्रिकूट पर बसी लंका है। इस पर विजय होते ही सविकल्प समाधि हो जाती है। यह लिङ्ग चक्र कहलाता है। यहां प्रकृति चिह्न रूप में है। अतः यहाँ भव-भय-हरण, कालमत्ते भसिंह, निर्गुण, निर्विकार, मायातीत की बन्दना है। माया का ऊपर लेश नहीं। वह यहीं छूट जायगी।

आगे तो पुष्पक से जाने की बात है जो इच्छागामी है साधन की सीमा यहाँ तक है। प्रभु कृपा साध्य है, साधन साध्य नहीं। उनके चरणों में पहुँचने की इच्छा उनकी कृपा के सहारे यहां से झट ऊपर फेंक देती है। विहंगम मार्ग है ऊपर का। अन्त में तो सहस्र दल पर - साकेत के सिंहासन पर राज्याभिषेक है। युगल सरकार की वह छटा उत्तरकांड में मिलेगी।



‘केकीकण्ठाभनीलं सुरवर विलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं
 शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम् ।
 पाणौनाराचचापं कपिनिकरयुतं बंधुना सेव्यमानं,
 नौमीढ्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम् ॥

मयूर की गर्दन के समान चमकता हुआ नीलवर्ण, श्रेष्ठ [विशाल] वस्त्र पर विप्रवर के चरण कमलों का चिह्न भृगुलता, शोभाधाम, पीताम्बर पहिने, कमल-नयन, सर्वदा सुप्रसन्न, हाथ में धनुष-बाण लिये, बानर समूहों से युक्त, भाई लक्ष्मण द्वारा सेवित, पुष्पक विमान पर बैठे, जानकीश श्रीराघवेन्द्र को हम निरन्तर नमस्कार करते हैं।

बड़ा मृदुल तथा चमकता वर्ण होता है मयूर की गर्दन का। श्री राघवेन्द्र का वर्ण वैसा ही नीलाभ है। युद्ध में उस वर्ण पर न तो क्षत के चिह्न पड़े हैं और न आघात जन्य कालिमा। मयूर की गर्दन के समान वह एक समान है। उसमें चमक है। इतने बड़े महासंग्राम में भी उस वर्ण पर रुक्षता नहीं आई है।

कौन कहता है कि रावण ब्राह्मण था। पुलस्त्य कुल का होने से ही तो वह ब्राह्मण नहीं हो जायगा। उसकी माता राक्षसी थी और वह मातृपक्ष में ही रहा। अतः वह मातृकुल का ही हुआ। ऋषियों ने—जैसे व्यास ने पांडु, धृतराष्ट्रादि का जन्म अपने वीर्य से कराया, तो क्या वे पुत्र पाराशर कुल के हो गये? उस समय पुत्र जिस ओर, पिता या माता की ओर जाता था, उसी जाति का माना जाता था। यदि रावण ब्राह्मण होता तो कौशलेन्द्र उसका वध करते! वे तो अपराधी ब्राह्मण के भी चरण-चिह्न आदर से हृदय पर धारण करते हैं। उनके वस्त्र की भृगुलता यथेष्ट सूचित करती है।

भृगु ने उनका अपमान किया, उन पर पाद-प्रहार किया प्रभु ने चरण दबाया उनके और उस चरण का चिह्न धारण कर लिया। रावण ने गो-ब्राह्मण एवं उनके जनों को कष्ट दिया और वह उनके हाथों मारा गया। प्रभु अपना अपराध तो गिनते ही नहीं और अपने जनों के अपराध करने वाले को क्षमा करना नहीं जानते !

वे शोभाह्व्य हैं। 'सोभा सिन्धु सुभग रघुवीरा' ब्राह्मण के चरण का काला दाग उस नील विशालवत्स पर शोभा ही पाता है। वह और शोभा को बढ़ा देता है। उस पर सरकार ने पीताम्बर धारण कर लिया है। शोभा चौगुनी चमक गई है। अभी प्रभु पुष्पक पर हैं। अयोध्या पहुँचे नहीं। वन में उनके शरीर पर बलकल है। वही बलकल उस छटा में पीताम्बर हो गया है। कैसे ! हम आरण्यकांड के मंगलाचरण में इस पर प्रकाश डाल आये हैं।

कमल के समान बड़े-बड़े नेत्र हैं। श्रीमुख तो सर्वदा सुप्रसन्न रहता है। यह क्या कहने लगे गोस्वामी जी ? इन कमल नेत्रों से जानकी-वियोग और लक्ष्मण-मूर्छा के अवसर पर क्या कम अश्रु-वृष्टि हुई है ? फिर सर्वदा सुप्रसन्न कैसे ? गोस्वामी जी की दृष्टि मुखाम्बुज श्रोपर सर्वदा स्थिर रही है। उन्होंने इसी से उन मानव नाट्यों का रहस्य समझा है। यहां वे उस रहस्य को स्पष्ट खोलकर बताये दे रहे हैं कि वह सब नाटक ही था। प्रभु तो सर्वदा सुप्रसन्न रहते आये हैं।

दाहिने हाथ में वही महाशायक और बायें में धनुष है। वन में चले थे इसी छटा से। आज देव-कार्य पूरा करके उसी शोभा से लौट रहे हैं। इसी बाण और इसी कोदंड ने सब पूरा कर दिया। अभी बाण त्रोण में नहीं गया है। यदि 'निसिचर

हीन करौं महि' वाली प्रतिज्ञा में किसी को कुछ कोर कसर दिखाई दे तो कहे । वह भी लगे हाथ पूरी हो जायगी ।

साथ में कपिनिकर हैं । बड़े-बड़े सेनानायक पुष्पक पर प्रभु की ओर मुख करके उन्हें घेरे बैठे हैं । चार, छः नहीं, 'पदम अंठारह यूथप' थे और यूथप तो साथ लिये ही गये । आज का हवाई जहाज पुष्पक के एक कोने में रखा होता तो ऐसा ही जान पड़ता कि किले की दीवार पर एक मक्खी बैठ गई हैं ।

छोटे भैया सेवा में तत्पर हैं । वे कभी नीचे देखकर मार्ग बतलाते हैं और कभी जल लाने दौड़ते हैं । कुछ काम न रहने पर सिंहासन के पीछे खड़े होकर पुष्पक में रखे चँवरों में से एक लेकर चंवर करने लगते हैं । प्रभु की इंगित का बराबर ध्यान रखते हैं ।

आज तो प्रभु जानकीश हो रहे हैं । महारानीजी उस विमान के मणि जटित सिंहासन पर बामभाग में विराज रही हैं और प्रभु उन्हें नीचे का दृश्य दिखलाते जाते हैं । उनका परिचय भी देते जाते हैं । ऋषियों के आश्रमों के आने पर प्रणाम करने को कहते हैं और स्वयं करते भी हैं । आज अधिकांश वे श्रीजानकीजी से ही वार्तालाप में लगे हैं ।

आज वे अयोध्या जा रहे हैं, वहाँ के राजसिंहासन को भूषित करने के लिये । उसकी झांकी पुष्पक पर ही उपस्थित है । पुष्पक के सिंहासन पर महारानी जी के साथ बानर यूथपों के मध्य में भाई द्वारा सेव्य वे रघुबीर ही तो हैं । रघुवंश के सिंहासन पर बैठने की छटा यही तो होगी ।

पुष्पकारूढ़ श्रीराम की अनिश-निरन्तर बन्दना । उन्हें सतत नमस्कार । सरकार का पुष्पक मन की गति से जाता है । दूसरी सवारी इतनी तीव्र न चल सकेगी । इस समय तो आप आरूढ़ ही हैं, बैठने की भी देर नहीं । अतः इसी रूप में सतत प्रणाम !

स्मरण करते ही न पहुँचने में विलम्बका कोई कारण है नहीं और यहां इच्छा निरन्तर साक्षिधकी है। अतः सतत प्रणाम प्रभु !

उत्तरकांड की प्रथम बन्दना है यह। युद्ध का परिणाम इसमें स्पष्ट है। अंग अक्षत है। उस पर कोई आघात-चिह्न नहीं। वह केकीकंठाभ एकरस मृदुल है। हृदय के चिह्न को कहीं आघात चिह्न न समझ ले ! वह तो भृगुलता है प्रभु अपने अपराध पर रावण को छोड़ भी देते पर वह विश्व-द्रोही था।

वे शोभा के समुद्र हैं ही। आज की शोभा विजय जन्य नहीं है। उन्होंने पीताम्बर पहिना है। इतना बड़ा संग्राम हुआ, पर उनका वस्त्र पीला ही रहा। उस पर रक्त के छींटे पड़े नहीं। 'सोनितकंठी' पड़ी भी थीं तो कहीं कहीं श्रीअंग पर और वे धुल गईं। वस्त्र तो पीत ही बना रहा। उनके कमल नेत्र सदा खिले रहे। वे सर्वदा सुप्रसन्न रहे। रोष आया ही नहीं। रोष आया होता तो राक्षसों को अपना धाम देते ? वे तो सदा सुप्रसन्न रहे। इसी प्रसन्नता में मोक्ष लुटाया जाता रहा।

हाथ में धनुष-बाण है। बाण अमोघ है और लौट आया करता था। एक बाण भी नष्ट नहीं हुआ। धनुष को भला कोई क्या काटता ? वह तो शारङ्ग है। दोनों विजय-अक्षुरण विजय के प्रतीक हैं। कपि समूह घेरकर बैठे हैं। कोई सैनिक खोया नहीं गया। मरे भी जीवित कर लिये गये।

छोटे भैया पूर्ववत् सेवा में लगे हैं। महारानी जी साथ हैं। बन आते समय जो कुछ लाये थे, बाण-धनुष, स्त्री-बन्धु सब साथ हैं और कपिनिकर तथा पुष्पक और लेकर लौट रहे हैं। लौटते ही अभिषेक हो जायगा। यह सूचना पुष्पक की छटा ही दे रही है।

‘कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ,
 कोमलावजमहेशवन्दितौ ।
 जानकीकरसरोजलालितौ,
 चिन्तकस्यमनभृङ्गसङ्गिनौ ॥’

श्री कौशलेन्द्र के मंजुल कोमल चरणारविन्द ब्रह्मा एवं शिव के द्वारा बन्दित, जगज्जननी जानकी जी के कर कमलों द्वारा लालित एवं ध्यान करने वाले के मानस भृङ्ग के साथी—निवास स्थान हैं ।

प्रभु अब सिंहासनासीन हो चुके हैं । अभिषेक समाप्त हो गया है । अब वे कौशलेन्द्र हैं । केवल उत्तर कोशल, भारत या पृथ्वी के ही वे महाराज नहीं हैं । उन महाराजाधिराज के कोमल मंजुल पदकंज अज एव महेश बन्दित हैं । त्रिलोकेशों पर भी उनका शासन है ।

माता जानकी उन पदपद्मों को बड़े प्रेम से अपने कोमल कमल करों से दबाती हैं । बड़े धीरे-धीरे उन्हें लालित करती हैं । बड़े सुकुमार चरण हैं वे चिन्तन करने वाले के मन भृङ्ग के साथी हैं । साधारण कमल भ्रमर का साथी नहीं होता । भ्रमर को ही कमल के पास आना पड़ता है । वह कमल तो स्थिर—जड़ होता है । सरकार के ये चरण कमल चिन्तक के मन के साथी हैं । चैतन्यघन दयासागर के श्रीचरण जो हैं । यदि ध्याता का मन कहीं चंचल होकर भागे भी तो जहाँ वह जायगा, वहीं ये पहुँच जायँगे । प्रत्येक पदार्थ एवं भावों में उसे आराध्य के श्रीचरण दृष्टि पड़ेंगे । तभी तो गोस्वामी जी ने ‘सीयराम मय सब जग जानी’ कहा है ।

अब आप अन्तिम सहस्रदल कमल पर पहुँच चुके हैं। मध्य की कर्णिका पर क्रमशः सूर्य, चन्द्र और अग्नि की प्रतिष्ठा हो गई है। उस पर दिव्य मणि जटित सिंहासन पर आराध्य आसीन हैं। उनके श्रीचरण एक मंजुल पाद पीठ पर रखे हैं। नखमणियों की शीतल कान्ति कोटि-कोटि चन्द्र सूर्य को लज्जित करने वाली है। आनन्द ! शान्ति ! प्रकाश ! केवल शुद्ध सच्चिदानन्दघन !

ब्रह्मा और शिव, जगत की स्रष्टा एवं विनाशक शक्ति उन श्रीचरणों के आगे हाथ जोड़े नित रहती हैं। उन पदनखों का प्रकाश ही समस्त शक्तियों का उद्गम है। निर्माण और विनाश वहाँ पहुँच नहीं सकते। उनके अधिष्ठाता भी दूर से उन श्रीचरणों की बन्दना करते हैं। यहाँ आकर साधक जरा-मृत्यु से रहित एवं जन्म-मरण से त्राण पा जाता है।

श्री जानकी जी नीचे बैठकर अपने कर कमलों से उन श्रीचरणों की सेवा किया करती हैं। आदि शक्ति योगमाया उन श्रीचरणों में उपस्थित रहती हैं। उनकी सेवा करती हैं। वहाँ पहुँच कर साधक को फिर क्या अभाव ? उसे कौन सी शक्ति दुष्प्राप्य रह गई ?

ध्यान के द्वारा यहाँ तक पहुँचने वाले साधक के वे पादपद्म साथी हैं। 'द्वा सुपर्णा समुजा सखायौ' जीव और ब्रह्म सखा ही हैं। वह आनन्दकन्द सब का सखा है। वहाँ तक पहुँचने पर वे पद्मसरोज उस ध्यान करने वाले के मन भृङ्ग के साथी हो जाते हैं। फिर पतन नहीं होता। उस आनन्द सौन्दर्य सागर को देखकर मन फिर जाग्रता भी कहाँ ? यदि प्रारब्ध-वशात् भटका भी तो वे चरण सामने ही दिखलाई पड़ते हैं। एक बार माया यवनिका हटने पर पुनः प्राप्त नहीं होती।

‘योगः कर्मसु कौशलम्’ और उस कुशलता के अधीश्वर प्रभु हैं। अतः आज वे कौशलेन्द्र हैं। ‘राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी’ सो उनके स्वरूप के विषय में कुछ कहना ठीक नहीं। उनके श्रीचरण जो बड़े कोमल हैं और मंजुल हैं। वही ध्यान में रखना चाहिये। दूसरा सब तर्क जाल ममेला है। श्री गौरांग महाप्रभु ने सुन्दर कहा—

श्रीकृष्ण चरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम् ।

जगत्सत्यमसत्यं वा नेतरेतन्मतिर्मम ॥’

‘श्रीकृष्ण के चरणारविन्द सत्य ही हैं, ऐसा अच्छी प्रकार जान लेने पर मेरी बुद्धि इस ओर जाती ही नहीं कि संसार सत्य है या असत्य।’ सो उन मंजुल पदकंजों से ही मतलब रखना श्रेयस्कर है।

यों तो सत्व-रज-तम की त्रिपुटी आज्ञा चक्र में ही समाप्त हो चुकी है, पर यहां प्रभु के श्रीचरणों तक तो उनके दिव्य अधिष्ठाता भी बन्दनार्थ ही पहुँचते हैं। प्रभु का श्री विग्रह दिव्य सत्व को तटस्थ उपादान बनाकर व्यक्त हुआ है। वैसे ‘हरि व्यापक सर्वत्र समाना’ हैं वे। दिव्य रज के अधिष्ठाता ब्रह्माजी तथा दिव्य तमस के अधिष्ठाता शङ्करजी उनके चरणों की बन्दना करते हैं। दिव्य रज एवं तमका भी वहां स्थायी प्रवेश नहीं।

योगामाया उन चरणों की सेवा करती है। उनके कर सरोज के आधार से ही तो यह सगुण अभिव्यक्त है। अविद्या की तो वहां पहुँच ही नहीं। वहां ‘मोह निसा लवलेसा’ भला कहां? अवश्य ही विद्या-प्रभु की अभिन्न-शक्ति, जिनको उपादान बनाकर वे ‘निर्गुण नाम न रूप’ सगुण नाम-रूपधारी होते हैं, वही योग-माया उन चरणों को लालित करती है।

जीव पहिले से ही उन चरणों का साथी है और वे चरण उसके। श्रुतियों में इसे हंस कहकर बतलाया गया है। अपने

अहंकार या अविद्या के कारण वह वहां से पृथक् हुआ । कब से पृथक् हुआ ? कुछ पता नहीं । इसी से अनादिकाल से कहते हैं । तब से, जब का अनुमान करना भी बुद्धि की शक्ति से परे है ।

विश्व की समस्त क्रियाशीलताओं का एक ही अर्थ है, अन्तर की निरन्तर बनी रहने वाली उद्दाम अतृप्ति का एक ही उद्देश है, जीवन के यावत् संघर्षों एवं हलचलों में एक ही मतलब है—नित्यतृप्ति, शाश्वत आनन्द और यह प्राप्त नहीं हो सकता तब तक, जब तक कि वे मंजुल पदकंज साथी नहीं बन जाते । नित्य आनन्द उनसे बाहर है ही नहीं । वाह्य आनन्द तो केवल मिथ्या-भास है ।

उन पदकंजों को संगी बनाने के लिये अपने मनको उनका भृंग बनाना होगा । चिन्तक बनना होगा उन चरणों का । चिन्तन—ध्यान के द्वारा वे उपलब्ध होते हैं । मूलाधार से यह सहस्रदल तककी गति केवल ध्यान से हुई है । जपादि सभी क्रियायें गौण हैं । ध्यान ही प्रधान है ।

ध्यान क्या अर्थ रखता है ? गोस्वामी जी उसे चिन्तन कहते हैं । आप जप करें या पाठ, पूजा करें या तपस्या, यदि उसमें मन साथ न हो, वह कहीं दूसरी उधेड़ बुन में हो तो सभी क्रियायें कोरे कर्म बनकर रह जायंगी । उनसे पुण्य तो होगा, पर प्रभु पुण्य से नहीं प्रेम से मिलते हैं, प्रेम हृदय का धर्म है । वह स्मृति से—चिन्तन से होता है । सारे कार्यों का एक ही उद्देश्य है, उन चरणों की सदा स्मृति रहे । ऐसी नित्य स्मृति जिसे हो उसी चिन्तक के मन भृंग के वे श्रीचरण सरोज साथी हैं ।

‘कुन्दइन्दुदरगौर सुन्दरं,
 अम्बिकापतिमभीष्ट सिद्धिदम् ।
 कारुणीक कलकंजलोचनं,
 नौमिशंकरमनङ्गमोचनम् ॥’

कुन्दके पुष्प के समान तथा शंख के समान धवल एवं सुधाकर सदृश प्रकाश पूर्ण गौर सुन्दर, माता पार्वती के पति, अभीष्ट सिद्धिदाता, करुणामय, सुन्दर कमलनेत्र, तथा मन्मथ-मर्दन भगवान् शङ्कर को नमस्कार ।

उत्तरकाण्ड की अन्तिम प्रार्थना है यह । सिंहासन स्थित महाराज की स्त्रांकी हो चुकी है । अब कथा के उप्रेरक गुरु के प्रति यह कृतज्ञता ज्ञापन है । गोस्वामी जी मानस के आदि-गुरु को प्रणाम करते हुये अपने प्रति की गई कृपा पर कृतज्ञता प्रकाश कर रहे हैं ।

शंख, कुन्द और इन्दु तीनों उज्ज्वल हैं, फिर गौर सुन्दर कहने के लिए दो विशेषण क्यों ? कुन्द उज्ज्वल है, पर उसमें प्रकाश नहीं और इन्दु उज्ज्वल तथा प्रकाश युक्त है तो कालिमा युक्त भी । भगवान् शंकर कुन्द के समान निष्कलंक धवल हैं, साथ ही इन्दु के समान प्रकाश मंडित उनकी शरीर कान्ति है । कुन्द कुम्हला जाता है, इन्दु घटता बढ़ता है, पर उनकी कान्ति, उनकी उज्ज्वलता शंख के समान नित्य एक रस स्थायी है ।

आरम्भ में ‘श्रद्धा विश्वास रूपिणौ’ बंदना करते हुये ‘भवानी शंकरौ’ की बन्दना की गई थी । मानस का कार्य स्वान्तस्थ ईश्वर का दर्शन दोनों की कृपा से ही हुआ । दोनों की कृपा से ही यह चरित मानस नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष हुआ, अतः कृतज्ञता ज्ञापन

के समय भी दोनों का स्मरण आवश्यक है। इसी से भगवान् शङ्कर को अम्बिका पति के रूप में स्मरण किया गया। उन जगज्जननी के प्रति इसके अतिरिक्त कृतज्ञता हम प्रकट कर भी क्या सकते हैं कि उन्हें मां !' अम्बिका भर कहें। बच्चे की यही सबसे बड़ी कृतज्ञता है !

‘अभीष्ट सिद्धिदम्’ भगवान् शिव अभीष्ट सिद्धि-दाता हैं। बांछा कल्पतरु हैं। उनका नाम ही आशुतोष है। यह बात केवल सुनी सुनाई नहीं। गोस्वामी जी अपना अनुभव कह रहे हैं। उन्होंने जो कुछ चाहा, जैसे चाहा, वह सब पूर्ण हुआ। पहिले के विशेषतः बालकाण्ड के प्रकाश-पथ को एक बार देख जाइये। उन्होंने अपने मानस को सर्वत्र बन्दनीय करता चाहा था और वह हो गया।

वे परम प्रभु करुणामय हैं। उन दयासिन्धु को दया बहुत शीघ्र आती है। गोस्वामी जी मानों अत्यन्त द्रवित कंठ से कह करहे हैं ‘प्रभु, मैंने न तो आपकी पूजा की और न पाठ। आपके लिये कुछ भी तो नहीं किया मैंने। फिर भी आपने कहते ही मुझ पर कृपा की, अकारण कृपालु हैं आप।’

ओह ! उस कल कंज त्रिलोचन का पूछना ही क्या ! जिधर दृष्टि घूम गई, सुख-सौन्दर्य एवं आनन्द की वर्षा हो गई। सुन्दर कमल से नेत्र हैं। उनमें सौन्दर्य है, सुरभि है, माधुर्य है ! वे शिव हैं सत्य हैं सुन्दर हैं। उनकी दया-दृष्टि विश्व में इसे ही वितरित करती है।

अनंगमोचन हैं न वे ? उनके शरणागत के मन में विकार कैसे आ सकते हैं। गोस्वामी जी ने प्रार्थना की थी कि इस मानस-निर्माण में ‘सुगम अगम नाना चरित’ भ्रम में न डालें। मन में विकार न आवें। वह हो गया। उस अनंग मोचन की कृपा से विकारों ने बाधा नहीं दी।

श्रीरामचरित मानस भगवान शङ्कर के मानस से निकला है। 'रचि महेस निज मानस राखा।' मानस पूर्ण स्वभाव एवं व्यक्तित्व का स्वरूप होता है। वह व्यक्तिका प्रतीक होता है। अतः रामचरित मानस भगवान शिव का प्रतीक, उन्हीं का समान गुणधर्मा हो तो आश्चर्य क्या ? ग्रन्थ की अन्तिम बन्दना में गुरु के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन और साथ ही साथ ग्रन्थ का स्वरूप प्रकट करना भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस बन्दना में कृतज्ञता-ज्ञापन के साथ पाठक को ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रकाश दिया गया है।

ग्रन्थ के उपयोग में तीन सत्ता होती हैं। श्रोता, वक्ता एवं ग्रन्थ। यहां कहा गया है कि तीनों सतो गुणी होने चाहिये। श्रोता हो कुन्द के समान कोमल चित्त एवं श्रद्धा-सुरभिसे पूर्ण। वक्ता को प्रकाशमय इन्दु होना चाहिये। उसमें ज्ञान का प्रकाश तो हो, पर तीव्रता नहीं। अमृत वर्षा करने वाली स्निग्धता होनी चाहिए। शिष्य के प्रति उसका अनुराग होना चाहिए। ग्रन्थ तो शंख के समान पवित्र एवं उज्ज्वल है ही। सुवक्ता का मुख लगते ही उसका ज्ञानमय घोष दिशाओं को ध्वनित कर देगा।

उसके पठन-श्रवण से होगा क्या ? जगदम्बिका भक्ति का प्रादुर्भाव ! वह 'मानस' उनका स्वामी है। श्रीराम स्वरूप ही है जो वह। साथ ही अभीष्ट की सिद्धि भी। जो कुछ चाहोगे, वह प्राप्त होगा। यह रामचरित मानस तो कल्पतरु है। जिस किसी भी इच्छा से इसका आश्रय लोगे, वह निश्चय ही पूर्ण होगी।

ऐसा इसलिए कि मानस भगवान बड़े करुणामय हैं। इनके कमल लोचनों की कृपा सदा सब पर रहती है। 'भाव कुभाष अनघ आलसहू।' स्मरण करने पर 'मंगल दिसि दसहू' करने वाले श्रीराम नाम की इनमें प्रतिष्ठा हुई है। 'एक घरी, आधी-

घरी आधिहु में पुनि आध ।' आश्रयण में बहुत अधिक समय लगता भी नहीं है ।

अनंगही समस्त विकारों का राजा है । मानस के आश्रयण से जब वही नष्ट हो जाता है तो दूसरे विकार टिक कैसे सकते हैं । विकारों की व्याधि से परित्राण पाना हो तो मानस का आश्रय लेना चाहिए । मानस तो शङ्कर-कल्याण कर्ता है । उसका पाठ, श्रवण, मनन, यहां तक कि नमस्कार भी कल्याण प्रद है ।

सहस्रदल कमल पर शुद्ध स्वरूप आराध्य के दर्शन हो चुके । फिर भी शिष्य तो शिष्य ही रहेगा । इतना सब कैसे हुआ ? क्या हुआ गुरु की कृपा से हुआ । क्या हुआ का प्रकार बताया जा रहा है, इस श्लोक में । एक प्रकार से वह अपनी वर्तमान स्थिति बतला रहा है ।

त्रिगुणों से पार साधक विशुद्ध त्रिरूपात्मक सत्त्व स्वरूप हो गया है । वह दिव्य सत्त्व जो जो इस समय साधक का स्वरूप है, कोमल, ज्योतिर्भय एवं एक रस है । कुन्द-इन्दु-दर से यह सूचित किया गया । इस समय शक्ति पर-आदि शक्ति कुण्डलिनी पर उसका अधिकार है । वह उसका स्वामी है और सब सिद्धियाँ उसे प्राप्त हैं । दूसरों को भी वह अभीष्ट दे सकता है ।

अब उसमें स्वार्थ नहीं रहा, सुखेच्छा नहीं रही, फिर भी वह कर्म करता है । क्यों करता है ? इसलिए कि वह करुणामय हो गया है । जीवों का कष्ट उससे देखा नहीं जाता । सब पर उसके कल कंजलोचन पड़ते हैं । उसकी कृपा दृष्टि है सब पर, वह स्वयं तो अनंग मोचन हो गया है । उसमें विकार है ही नहीं । वह शिव स्वरूप हो गया है । उससे अब केवल विश्व कल्याण होता है ।



'यत्पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं,
 श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यैतु रामायणम् ।
 मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शान्तये,
 भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ॥
 पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं,
 मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम् ।
 श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये,
 ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दहन्ति नो मानवाः ॥'

सर्वश्रेष्ठ कवि प्रभु भगवान् शंकर ने श्रीमान् श्रीरामभद्र के श्रीचरणों में अहर्निश अविच्छिन्न भक्ति की प्राप्ति के लिये जिस दुर्गम रामायण का निर्माण किया था, उसी (रामायण) को श्री रघुनाथ के नाम में लगी जानकर अपने अन्तःकरण के अज्ञानान्धकार के शमनार्थ तुलसीदास ने श्रीरामचरित मानसके रूप में भाषावद्ध किया ।

यह श्री रामचरित मानस पुण्य स्वरूप, पापहारी, सर्वदा कल्याणकारी, विज्ञान एवं भक्ति का दाता, माया-मोह तथा मल का नाशक, अत्यन्त निर्मल प्रेमवारि से पूर्ण तथा शुभ है । जो मनुष्य भक्ति-पूर्वक इसमें स्नान करते हैं वे संसार रूपी सूर्य की प्रचंड (दुःख) किरणों से जलते (तप्त होते) नहीं ।

मंगलाचरण तो हो चुके । यह ग्रन्थ के अन्तिम दो श्लोक हैं । इनमें निर्माता ने ग्रन्थ का स्वरूप, उसका उद्गम, अपने निर्माण का अभिप्राय तथा ग्रन्थ का माहात्म्य बतलाया है ।

इसके बिना प्रकाश-पथ अपूर्ण रह जायगा । पाठकों को तो ग्रन्थ के सम्बन्ध में वाह्य स्वरूप का ज्ञान यही से प्राप्त होता है ।

गोस्वामी जी कह रहे हैं कि मैंने न तो वाल्मीकीय रामायण का आश्रय लिया है और न अध्यात्म रामायण का । मैंने तो आश्रय लिया है उस रामायण का जिसे भगवान् शंकर ने निर्मित किया । भोलै बाबा प्रभु हैं, उन्हें श्री रघुनाथ के 'सुगम-अगम' चरितों में भ्रम हो नहीं सकता । प्रभु होने के कारण ही वे रामायण निर्माण के सर्व श्रेष्ठ अधिकारी हैं । उन प्रभु-समर्थ का वर्णन ही प्रमाण होना चाहिये । साथ ही वे सुकवि हैं । काव्य के सभी गुण उनकी रचना में हैं । किन्तु इसका फल यह हुआ कि उनकी रामायण दुर्गम हो गई । उन समर्थ सुकवि की रचना का रहस्य साधारण समझ से परे है । बड़े-बड़े मस्तिष्क उसमें टक्कर मारकर रह जाते हैं । उसमें गति उन आशुतोष की कृपा के बिना नहीं होती ।

आत्माराम आप्तकाम भगवान् शिव इस काव्य-निर्माण के पचड़ों में पड़े ही क्यों ? उन्हें भी क्या लोक-प्रशंसा चाहिये ? ऐसी बात नहीं । वे हैं परम राम भक्त । श्री राघवेन्द्र की सतत भक्ति की प्राप्ति के लिये उन्होंने इसका निर्माण किया है । उनमें वैसे भक्ति का कुछ अभाव नहीं है पर प्रेमी को अपना प्रेम सदा अपूर्ण ही दिखाई पड़ता है और भगवद्भक्त अपने प्रभु का, उनके चरितों का निरन्तर ध्यान, स्मरण ही तो करते हैं ? अपने निरन्तर चिन्तन के लिये गान के लिये भगवान् शंकर ने इस रामायण का निर्माण किया है । इसके द्वारा वे सतत भक्ति-सुधा में तन्मय रहते हैं ।

चरितों की तन्मयता एवं रहस्य समझने की योग्यता से नहीं, केवल रघुनाथ के नाम की इसमें अपार महिमा देखकर

हम (तुलसीदास) ने इसे अपने अंतःतम की शान्ति के लिये भाषाबद्ध किया है। नाम-प्रभाव से अन्तःकरण की शुद्धि की पूरी आशा है। भगवान् शंकर के दुर्गम रहस्य को समझकर यह साहस नहीं हुआ है। उसे समझने की योग्यता है भी नहीं। यह श्रीरामचरित मानस कोई हमारी मौलिक रचना नहीं है। हमने तो उसे केवल भाषाबद्ध किया है। उसी शिवकृत रामायण का भाषानुवाद किया है।

यहां तक गोस्वामी जी ने रामायण का परिचय दिया। उनके इतना स्पष्ट कह देने पर भी वाल्मीकीय या अध्यात्म रामायण में उनके मानसका आधार ढूँढ़ना कोई बुद्धिमानी नहीं है। भगवान् शिवकृत जो संस्कृत में रामायण थी, जिसका श्री रामचरित मानस को गोस्वामी जी भाषानुवाद कहते हैं; वह अत्यन्त दुर्गम थी। मेरी राय में आज वह प्राप्य नहीं है। अस्तु अब आगे इस भाषाबद्ध मानस का महत्व बतलाते हैं।

श्री रामचरित मानस को मानस का रूपक ग्रन्थ में दिया गया है और इस माहात्म्य में भी वे उसे मानस के ही रूप में देख रहे हैं। अतः फल भी वे अवगाहन का ही बतलावेंगे। वस्तुतः बिना किसी भाव में अवगाहन किये, सिर तक डूबे, उसका पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष होता भी नहीं। स्नान का अर्थ है रोम-रोम को भिगा देना। पूर्णतः डुबकी लगा लेना। इसी प्रकार ग्रन्थ का अवगाहन है उसमें सम्पूर्ण भाव से तन्मय हो जाना।

अवगाहन पुण्यस्थल-तीर्थों में होता है। यह मानस पुण्य है, तीर्थ स्वरूप है। जिसमें श्री रघुनाथ का निवास हो, उससे पुण्य तीर्थ और कहां मिलेगा। तीर्थों में और क्या विशेषता होती है? वहां देव-सान्निध्य होता है। वह यहां है। इस तीर्थका प्रभाव पापहारी है। सभी तीर्थ यही प्रभाव करते हैं। तीर्थों में

तो अपराध करने से अकल्याण भी होता है; पर यह तीर्थ सदा कल्याणकारी है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है विज्ञान और भक्तिदान। तीर्थों में मरने से स्वर्ग होता है। काशी में मृत्यु विज्ञान-दान करके मुक्ति देती है और श्री अवध में कुछ काल-मात्र वास करके अन्यत्र कहीं भी मरने से जन्मान्तर में राम-भक्ति प्राप्त होती है और अवध में मरने से तो 'चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा ॥' पर इस तीर्थ में तो जीवित ही विज्ञान और भक्ति दोनों प्राप्त होती हैं।

इस मानस के स्नान से साधारण मैल ही नहीं, माया और मोहरूपी मैल भी दूर होते हैं। इस मानस में स्नान मानसिक ही तो होगा? अतः मन के मैल छूटेंगे। इसका जल मैला नहीं, अत्यन्त निर्मल है। घटा या सूखा नहीं। पूरा भरा हुआ है और जल का स्वरूप है प्रेम। स्वास्थ्य के लिए यह लाभप्रद है, शुभ है।

अश्रद्धा से तीर्थ-स्नान का फल नहीं होता। अतः इस तीर्थ में भी श्रद्धा से ही स्नान का फल होगा। उन्हीं मानवों को फल होगा, जो भक्तिपूर्वक अवगाहन करेंगे। फल क्या होगा? अरे स्नान का फल-ताप नाश। सूर्य की धूप ने तपाया हो तो स्नान कर लो! इस सर में स्नान करने वाले संसार-रूपी सूर्य की घोर किरणों से-त्रयताप से सुरक्षित हो जाते हैं—बस !

अच्छा अब आप इस प्रकाश-पथ से उस दिव्य मानस में अवगाहन करके त्रय-ताप की दाह से सुरक्षित हो जाइये ! हमें भी अपने पुण्य-प्रताप से आशीर्वाद दीजिये कि वह 'केकी-कण्ठाभ नील अनुकूल रहे !! श्री हरिः शरणम् ॥

मानस संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

१-शतपञ्च चौपाई पं. विजयानंद त्रिपाठी	२.७५
२-मानस पञ्चतत्त्व	" .७५
३-महात्मा बाली श्री सुदर्शनसिंह	.३१
४-श्री भगवन्नाम संकीर्तन	" .१०
५-देवर्षि नारद	" .३१
६-जीवन निर्माण [कहानियाँ]"	.६२
७-श्री हनुमान चालीसा सटीक"	.२५
८-श्री हनुमान चालीसा मूल सचित्र	.१०
९-शत्रुघ्नकुमार की आत्मकथा,,	३.००
१०-प्रभु आवत	" ४.००
११-मानस के अनुष्ठान	" .३५
१२-राक्षसराज	" २.००
१३-साधन सोपान	" .७५
१४-जरठ जटायु	" .३१
१५-अनुरागी केवट पं० रामरक्षित रामायणी	.५०
१६-श्री मानस सिद्धांत वेदान्त भूषण	
श्री पं० रामकुमारदास जी रामायणी	२.५०
१७-धर्मरश्मि पं० रामकुमारदास जी रामायणी	.७५
१८-सुख शान्ति के दो मन्त्र	.३०
(संत विनीत बिहारीदास 'विनीत')	
१९-चोर वधू उर्मिला	" .१५
२०-अनुसुइया चरित्र	" .३०
२१-व्यंगोपदेश	" .६०
२२-भगवत् भजन कीर्तन	" .३५
२३-विवाह प्रसङ्ग	" .२५
२४-सुखी जीवन	" .२५
२५-कथा कुसमाञ्जलि	" १.००

२६-नवधा भक्ति के भक्त	
(संत विनीत बिहारीदास 'विनीत')	१.६
२७-बाल चरित्र	१.७
२८-मानस में हठीला भक्त केवट	१.८
२९-श्री वैदेही की विदा	१.२
३०-नये युग का नारद मोह	१.३
३१-जटायू की जीवनान्त मांकी	१.२
३२-मानस में चरित्र बल	१.४
३३-मानस में महिला समाज	१.२
३४-मानस में रुचिर प्रसंग	१.२
३५-मानस में प्राचीन दहेज प्रथा	
और आज उसकी व्यथा	१.४
३६-मानसकण गो० महन्त रोशनपुरी	१.००
३७-गूढ़ार्थ चन्द्रिका द्वितीय खण्ड	३.०
दण्डी स्वामी प्रज्ञानानन्द जी सरस्वती	
३८-बान्धवेश महाराज रघुराजसिंह	१.०
गुरु श्री रामप्यारे अग्निहोत्री	
३९-तुलसी तीर्थ रामवन	१.०
४०-तुलसी शोध डा० वीरेन्द्रपाल श्रीवास्तव	२.०
४१-मानस तरंग (प्रथम खंड)	१.०
(कविरत्न पं० भैरवप्रसाद द्विवेदी)	
४२-मानस तरंग (तृतीय खंड)	
कविरत्न पं० भैरवप्रसाद द्विवेदी	१.०
४३-मानस हिलोर पं० रामरक्षित रामाश्रणी	१.६०
४४-तुलसीके द्वादश दल व्योहार राजेन्द्रसिंह	६.०

मन्त्री—मानस संघ, पो० रामवन, (सतना)

पिन कोड नं० ४८५१११